वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं. 397
ISBN-978-93-82071-83-9

सज्जाति परमस्थान

–मंगल प्रेरणा एवं आशीर्वाद –

जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी,
दो बार डी.लिट्. की मानद उपाधि से अलंकृत
परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी

–संकलनकर्त्री –

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी

परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी के 80वें जन्मजयंती वर्ष-सन् 2013-2014 (अमृत महोत्सव) के अन्तर्गत प्रथमाचार्य शांतिसागर ज्ञान-ज्योति प्रशिक्षण शिविर (27 नवम्बर से 3 दिसम्बर 2013) के अवसर पर प्रकाशित)

-प्रकाशक-

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.
फोन नं.- (01233) 280184, 280994
Website : www.jambudweep.org, E-mail : jambudweeptirth@gmail.com
Facebook : jaintirthjambudweep

प्रथम संस्करण	वीर नि. सं. 2540	मूल्य
1100 प्रतियाँ	मगसिर शु. एकम्, 3 दिसम्बर 2013	20/-रु.

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं वृहद् ग्रंथों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित होती रहती हैं।

–: संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :–

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी
(दो बार डी.लिट्. की मानद उपाधि से अलंकृत)

–: मार्गदर्शन :–

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी
(पीएच.डी. की मानद उपाधि से अलंकृत)

–: निर्देशक एवं सम्पादक:–

कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी

–: प्रबंध सम्पादक :–

जीवन प्रकाश जैन

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

कम्पोजिंग - ज्ञानमती नेटवर्क
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

पीठाधीश की कलम से.....

पूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी ने बीसवीं-इक्कीसवीं शताब्दी में साहित्य सृजन की अविरल धारा को प्रवाहित करके जैनधर्म की अद्भुत प्रभावना की है तथा जैन साहित्य जगत पर भी अनंत उपकार किये हैं। विशेषरूप से आपकी लेखनी से प्रसूत पद्य साहित्य अर्थात् पूजा-विधान से जन-जन को अमोघ शस्त्र के रूप में भक्ति का मार्ग प्राप्त हुआ है।

पूज्य माताजी द्वारा लिखित साहित्य को सतत प्रकाशित करने के लिए पूज्य माताजी की ही पुण्य प्रेरणा से सन् 1972 में स्थापित दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के अन्तर्गत वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला की भी स्थापना की गई, तब से लगातार इस ग्रंथमाला द्वारा साहित्य प्रकाशन का कार्य किया जा रहा है। जहाँ इस ग्रंथमाला ने लाखों श्रावकों एवं श्रद्धालु भक्तों को ज्ञान का लाभ प्रदान किया है, वहीं विशिष्ट एवं गुणवत्तापूर्ण प्रकाशन के माध्यम से इस ग्रंथमाला को भी समाज के मध्य एक विशिष्ट ख्याति प्राप्त हुई है।

इस ग्रंथमाला से जहाँ पूज्य माताजी द्वारा टीकाकृत षट्खण्डागम जैसे महान सिद्धान्त ग्रंथों तथा नियमसार, समयसार, गोम्मटसार, अष्टसहस्री, कातंत्र व्याकरण आदि जैसे मूल आगम ग्रंथों का प्रकाशन होता है, वहीं मुख्यतः पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी व प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी द्वारा लिखित विभिन्न बड़े-छोटे पूजा-मण्डल विधान आदि का प्रकाशन भी समाज के लिए विशेष मांग हेतु बना रहता है। आज हम इस ग्रंथमाला को अत्यन्त सौभाग्यशाली मानते हैं, जिसके माध्यम से प्रकाशित हो रहे सत् साहित्य की वर्ष भर पूरे 365 दिन भारत के कहीं न कहीं, किसी न किसी मंदिर में मण्डल विधान या साहित्य वितरण आदि के लिए मांग आती रहती है और जैनधर्म व भक्तिमार्ग की प्रभावना में यह ग्रंथमाला नित्य ही तत्पर रहती है।

विशेषरूप से इस ग्रंथमाला द्वारा समाज को लागत मूल्य से भी कम राशि पर साहित्य उपलब्ध कराने का प्रयास किया जाता है, जिससे कि सुविधापूर्वक जन-जन तक साहित्य पहुँच सके। आगे भी इसी प्रकार यह ग्रंथमाला अपना दायित्व निभाती रहे, यही भावना है। वर्तमान में प्रकाशित हो रही इस पुस्तक के माध्यम से आप सभी श्रावकजन विशेष धर्मलाभ को प्राप्त करें तथा जैनधर्म का यह ज्ञान आपके सम्यक्त्व को दृढ़ करने में सदा सहकारी बनकर मोक्षमार्ग को प्रशस्त करे, सभी भक्तों को मेरी यही शुभकामनाएं एवं मंगल आशीर्वाद है।

-कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी

प्रस्तावना

–प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

''सज्जाति परमस्थान'' नाम की यह पुस्तक वर्तमान पीढ़ी के लिए अति आवश्यक कृति के रूप में प्रस्तुत है। इसमें दिगम्बर जैन दिग्गज साधु-साध्वियों के सारगर्भित आलेखों का संकलन किया गया है।

चारित्रचक्रवर्ती बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य श्री शांतिसागर महाराज की परम्परा के प्रथम पट्टाचार्य श्री वीरसागर महाराज के शिष्य आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर महाराज ने आर्ष ग्रंथों का गहन स्वाध्याय करके पिण्डशुद्धि और सज्जाति के संबंध में तीन लेख लिखे थे, उन्हें इस पुस्तक में सर्वप्रथम क्रम-क्रम से प्रकाशित किया गया है।

पुनः पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी, गणिनी श्री सुपार्श्वमती माताजी, गणिनी श्री विजयमती माताजी एवं आर्यिका श्री विशुद्धमती माताजी आदि के द्वारा अनेकानेक प्रमाणों से समन्वित लेख दिये हैं।

खानदान-शुद्धि के लिए शास्त्रीय शब्द है– **सज्जातित्व की सुरक्षा।** महापुराण कार के अनुसार **पितृ-वंश की शुद्धि को 'कुल-शुद्धि' और मातृवंश की शुद्धि को 'जाति-शुद्धि' तथा दोनों की शुद्धि को 'सज्जातित्व' कहते हैं।** आगम में उल्लिखित **सप्त परमस्थानों में प्रथम है सज्जातित्व और अंतिम है निर्वाण।** एक साधन है तो दूसरा साध्य, एक नींव है तो दूसरी मंजिल। सज्जातित्व के बिना निर्वाण नहीं मिलता, इस विषय में सभी आचार्य एकमत हैं।

हमारे पूज्य आचार्यों ने **सज्जातित्व की महिमा** का बखान करते हुए लिखा है–

☐ विशुद्ध खानदान में ही तीर्थंकरों का जन्म होता है। हमारे सभी तीर्थंकर क्षत्रियकुलोत्पन्न थे, इसके पीछे छिपे रहस्य को समझना चाहिए।

☐ जिसका खानदान शुद्ध है, वही दीक्षा का अधिकारी है। आचार्यश्री जिनसेन स्वामी लिखते हैं-**''विशुद्धकुलगोत्रस्थ सद्वृत्तस्य वपुष्मतः''**अर्थात् विशुद्ध कुल-गोत्र में उत्पन्न सदाचार-सम्पन्न और सुन्दर शरीर वाले ही जिन-दीक्षा धारण करने के पात्र हैं।

आज के भौतिक युग में खानदान शुद्धि के रूप में भारतीय संस्कृति की रक्षा करना एक ज्वलन्त समस्या बन गई है। इसलिए इस पुस्तक की अत्यधिक उपयोगिता प्रतीत होती है। इसे आद्योपान्त पढ़ने से निश्चित ही अपनी जाति-कुल की रक्षा का भाव मन में उत्पन्न होगा, यही इसके प्रकाशन की सार्थकता है।

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि

श्री ज्ञानमती माताजी का संक्षिप्त-परिचय

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

जन्मस्थान–टिकैतनगर (बाराबंकी) उ.प्र.

जन्मतिथि–आसोज सुदी 15 (शरदपूर्णिमा) वि. सं. 1991, (22 अक्टूबर सन् 1934)

जाति–अग्रवाल दि. जैन, **गोत्र**–गोयल, **नाम**–कु. मैना

माता-पिता–श्रीमती मोहिनी देवी एवं श्री छोटेलाल जैन

आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत–ई. सन् 1952, बाराबंकी में शरदपूर्णिमा के दिन

क्षुल्लिका दीक्षा–चैत्र कृ. 1, ई. सन् 1953 को महावीरजी अतिशय क्षेत्र (राज.) में आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज से। नाम-क्षुल्लिका वीरमती

आर्यिका दीक्षा–वैशाख कृ. 2, ई. सन् 1956 को माधोराजपुरा (राज.) में चारित्रचक्रवर्ती 108 आचार्य श्री शांतिसागर जी की परम्परा के प्रथम पट्टाधीश आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज के करकमलों से।

साहित्यिक कृतित्व–अष्टसहस्री, समयसार, नियमसार, मूलाचार, कातंत्र-व्याकरण, षट्खण्डागम आदि ग्रंथों के अनुवाद/टीकाएं एवं लगभग 300 ग्रंथों की लेखिका।

डी.लिट्. की मानद उपाधि–सन् 1995 में अवध वि.वि. (फैजाबाद) द्वारा एवं तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय मुरादाबाद द्वारा 8 अप्रैल 2012 को ''डी.लिट्.'' की मानद उपाधि से विभूषित।

तीर्थ निर्माण प्रेरणा–हस्तिनापुर में जंबूद्वीप, तेरहद्वीप, तीनलोक आदि रचनाओं के निर्माण, शाश्वत तीर्थ अयोध्या का विकास एवं जीर्णोद्धार, प्रयाग-इलाहाबाद (उ.प्र.) में तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ का निर्माण, तीर्थंकर जन्मभूमियों का विकास यथा-भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा-बिहार) में 'नंद्यावर्त महल' नामक तीर्थ निर्माण, भगवान पुष्पदंतनाथ की जन्मभूमि काकन्दी तीर्थ (निकट गोरखपुर-उ.प्र.) का विकास, भगवान पार्श्वनाथ केवलज्ञानभूमि अहिच्छत्र तीर्थ पर तीस चौबीसी मंदिर, हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप स्थल पर भगवान शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरहनाथ की 31-31 फुट उत्तुंग खड्गासन प्रतिमा, मांगीतुंगी में निर्माणाधीन 108 फुट उत्तुंग भगवान ऋषभदेव की विशाल प्रतिमा, महावीर जी तीर्थ पर महावीर धाम में पंचबालयति मंदिर, शिर्डी में ज्ञानतीर्थ, सम्मेदशिखर में आचार्य श्री शांतिसागर धाम इत्यादि।

महोत्सव प्रेरणा–पंचवर्षीय जम्बूद्वीप महामहोत्सव, भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव, अयोध्या में भगवान ऋषभदेव महाकुंभ मस्तकाभिषेक, कुण्डलपुर महोत्सव, भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव, दिल्ली में कल्पद्रुम महामण्डल विधान का ऐतिहासिक आयोजन इत्यादि। विशेषरूप से 21 दिसम्बर 2008 को जम्बूद्वीप स्थल पर विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन का आयोजन हुआ, जिसका उद्घाटन भारत की तत्कालीन राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटील द्वारा किया गया।

शैक्षणिक प्रेरणा–'जैन गणित और त्रिलोक विज्ञान' पर अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी, राष्ट्रीय कुलपति सम्मेलन, इतिहासकार सम्मेलन, न्यायाधीश सम्मेलन एवं अन्य अनेक राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर के सेमिनार, ऑनलाइन जैन इनसाइक्लोपीडिया आदि।

रथ प्रवर्तन प्रेरणा–जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति (1982 से 1985), समवसरण श्रीविहार (1998 से 2002), महावीर ज्योति (2003-2004) का भारत भ्रमण।

इस प्रकार नित्य नूतन भावनाओं की जननी पूज्य माताजी चिरकाल तक इस वसुधा को सुशोभित करती रहें, यही मंगल कामना है।

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान-संक्षिप्त परिचय

–कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान की स्थापना पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से सन् 1972 में राजधानी दिल्ली में हुई थी। संस्थान का मुख्य कार्यालय सन् 1974 से हस्तिनापुर में प्रारंभ हुआ। इस संस्थान के अन्तर्गत अनेक गतिविधियाँ हस्तिनापुर में तथा अन्यत्र चल रही हैं-

1. सन् 1972 से वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला के अन्तर्गत प्रतिवर्ष लाखों ग्रंथ प्रकाशित हो रहे हैं।

2. सन् 1974 से इस संस्थान के मुखपत्र के रूप में 'सम्यग्ज्ञान' हिन्दी मासिक पत्रिका का निरंतर प्रकाशन हो रहा है।

3. सन् 1974 से 1985 तक हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप रचना का निर्माण कार्य हुआ।

4. सन् 1974 से अब तक जम्बूद्वीप रचना के अतिरिक्त अनेक जिनमंदिरों का निर्माण हुआ है- कमल मंदिर, तीन मूर्ति मंदिर, ध्यान मंदिर, शांतिनाथ मंदिर, वासुपूज्य मंदिर, ॐ मंदिर, सहस्रकूट मंदिर, विद्यमान बीस तीर्थंकर मंदिर, आदिनाथ मंदिर, अष्टापद मंदिर, ऋषभदेव कीर्तिस्तंभ, स्वर्णिम तेरहद्वीप रचना, तीन लोक रचना, नवग्रहशांति जिनमंदिर, चौबीस तीर्थंकर मंदिर एवं श्री शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरहनाथ की 31-31 फुट उत्तुंग प्रतिमाओं की स्थापना ।

5. जम्बूद्वीप पुस्तकालय जिसमें लगभग 15000 ग्रंथ संग्रहीत हैं।

6. णमोकार महामंत्र बैंक जिसमें भक्तों द्वारा लिखकर भेजे गये करोड़ों णमोकार मंत्र जमा किये जाते हैं।

7. समय-समय पर शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरों तथा संगोष्ठियों के आयोजन किये जाते हैं।

8. यात्रियों के शुद्ध भोजन के लिए राजा श्रेयांस भोजनालय का संचालन।

9. यात्रियों के ठहरने के लिए आधुनिक सुविधायुक्त डीलक्स फ्लैट्स वाली कई धर्मशालाओं तथा कोठियों एवं बंगलों का निर्माण किया गया है।

10. जम्बूद्वीप परिक्रमा के लिए नौका विहार, ऐरावत हाथी तथा मनोरंजन हेतु मिनी ट्रेन, झूले आदि हैं।

11. तीर्थंकर जन्मभूमियों की वंदना एवं धार्मिक फिल्मों का प्रदर्शन करने वाले थियेटर से समन्वित गणिनी ज्ञानमती हीरक जयंती एक्सप्रेस।

12. गणिनी ज्ञानमती दिगम्बर जैन पत्राचार परीक्षा केन्द्र का संचालन।

13. इंटरनेट पर जैनधर्म के इन्साइक्लोपीडिया (www.encyclopediaofjainism. com) का निर्माण।

दिल्ली, मेरठ, मुजफ्फरनगर, हरिद्वार, झाँसी, तिजारा आदि से जम्बूद्वीप स्थल तक आने के लिए दिन भर बसें मिलती रहती हैं।

दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान के अन्तर्गत भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा) बिहार में भव्य नंद्यावर्त महल तीर्थ, प्रयाग-इलाहाबाद (उ.प्र.) में निर्मित तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ तथा महावीर जी अतिशय क्षेत्र के महावीर धाम परिसर में निर्मित पंचबालयति दिगम्बर जैन मंदिर का संचालन होता है। वर्तमान में इस संस्थान के अन्तर्गत सम्मेदशिखर जीतीर्थ पर ''आचार्य श्री शांतिसागर धाम'' का निर्माण प्रारंभ किया जा रहा है।

जम्बूद्वीप एवं अन्य रचनाओं के दर्शन हेतु हस्तिनापुर पधारकर आध्यात्मिक एवं भौतिक सुख की प्राप्ति करें।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के शिरोमणि संरक्षक

1. श्रीमती निर्मला जैन ध.प. स्व. श्री प्रेमचन्द्र जैन, तत्पुत्र प्रदीप कुमार जैन, रोहतक, दिल्ली-6।
2. श्रीमती सुमन जैन ध.प. श्री दिग्विजय सिंह जैन, इंदौर।
3. श्री महावीर प्रसाद जैन संघपति, जी-19, साऊथ एक्सटेन्शन, नई दिल्ली।
4. श्री महेन्द्र पाल हरेन्द्र कुमार जैन, सूरजमल विहार, दिल्ली।
5. श्रीमती मोहनी जैन ध.प. श्री सुनील जैन, प्रीत विहार, दिल्ली।
6. श्री देवेन्द्र कुमार जैन (धारूहेड़ा वाले) गुड़गाँव (हरि.)।
7. श्रीमती शारदा रानी जैन ध.प. स्व. रिखबचंद जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-92।
8. डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन, भोपाल (म.प्र.)
9. श्रीमती संगीता जैन ध.प. श्री संजीव कुमार जैन, शेरकोट (बिजनौर) उ.प्र.
10. श्री अनिल कुमार जैन, दरियागंज, दिल्ली
11. श्री बी.डी. मदनाइक, मुम्बई
12. श्री धनकुमार जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-92।
13. श्री जितेन्द्र कुमार जैन एवं श्रीमती सुनीता जैन कोटड़िया, फ्लोरिडा, यू.एस.ए.
14. श्रीमती विमला देवी जैन ध.प. श्री ओमप्रकाश जैन, स्वालिक नगर, हरिद्वार (उत्तराखंड)।
15. श्री अमित जैन एवं संभव जैन सुपुत्र श्रीमती अनीता जैन ध.प. श्री मूलचंद जैन पाटनी, दिसपुर (कामरूप) आसाम।
16. श्रीमती अजित कुमारी जैन ध.प. श्री महेन्द्र कुमार जैन, ओबेदुल्लागंज (रायसेन) म.प्र.।
17. श्री नाभिकुमार जैन, जैन बुक डिपो, सी-4, पी.वी.आर. प्लाजा के पीछे, कॉनॉट प्लेस, नई दिल्ली।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के परम संरक्षक

1. श्री माँगीलाल बाबूलाल पहाड़े, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)।
2. डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन, 792 विवेकानंदपुरी, सिविल लाइन, सीतापुर (उ.प्र.)।
3. श्री सुमत प्रकाश जैन, गज्जू कटरा, शाहदरा, दिल्ली।
4. श्री सुनील कुमार जैन, द्वारा-सुनील टैक्सटाईल्स, सरधना (मेरठ) उ.प्र.।
5. स्व. श्री प्रकाश चंद अमोलक चंद जैन सर्राफ, सनावद (म.प्र.)।
6. श्री प्रद्युम्न कुमार जवेरी, रोकड़ियालेन, बोरीवली (वेस्ट) मुंबई।
7. श्रीमती उर्मिला देवी ध.प. श्री कान्ती प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।
8. श्रीमती उषा जैन ध.प. श्री विमल प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।
9. श्री आनन्द प्रकाश जैन (सौरम वाले) , गांधीनगर, दिल्ली।
10. श्रीमती सरिता जैन ध.प. श्री राजकुमार जैन, किदवई नगर, कानपुर।
11. स्व. श्रीमती कैलाशवती ध.प. श्री कैलाश चन्द्र जैन , तोपखाना बाजार, मेरठ।
12. श्री भानेन्द्र कुमार जैन, द्वारा-श्री विद्या जैन, भगत सिंह मार्ग, जयपुर।
13. श्री प्रदीप कुमार शान्तिलाल बिलाला, अनूपनगर, इंदौर, (म.प्र.)।
14. श्री सुरेशचंद पवन कुमार जैन, बाराबंकी (उ.प्र.)।
15. श्री नथमल पारसमल जैन, कलकत्ता-7।
16. श्रीमती स्व. शांताबाई ध.प. श्री कमलचंद जैन, सनावद (म.प्र.)।
17. श्री रूपचंद जैन कटारिया, दिल्ली
18. श्री आशु जैन, कालका जी, नई दिल्ली
19. श्री प्रद्युम्न कुमार जैन छोटी सा., श्री अमरचंद जैन सर्राफ, लखनऊ (उ.प्र.)
20. श्रीमती शशि जैन ध.प. श्री दिनेशचंद जैन, शिवालिक नगर, हरिद्वार (उत्तराखंड)।
21. श्रीमती आदर्श जैन ध.प. स्व. श्री अनन्तवीर्य जैन के सुपुत्र श्री मनोज कुमार जैन, मेरठ।
22. श्रीमती आरती जैन ध.प. श्री प्रकाशचंद जैन 'शीशे वाले', इलाहाबाद (उ.प्र.)।

विषय-सूची

क्रम	विषय	पृष्ठ
1.	**मर्यादा की रक्षा हमारा कर्तव्य है** -आचार्यकल्प 105 श्री श्रुतसागर जी महाराज)	1
2.	**वर्ण व्यवस्था** -आचार्यकल्प 105 श्री श्रुतसागर जी महाराज	5
3.	**आगम के आलोक में वर्ण-गोत्र आदि की स्थिति** -आचार्यकल्प 108 श्री श्रुतसागर जी महाराज	16
4.	**सज्जाति** -गणिनी आर्यिका ज्ञानमती	21
5.	**वर्ण एवं जाति-व्यवस्था के संबंध में आगमिक व्यवस्था और आधुनिक ऊहापोह** -आर्यिका श्री विशुद्धमती माताजी	28
6.	**जाति और वर्ण** -आर्यिका श्री सुपार्श्वमती माताजी	40
7.	**जैनधर्म और वर्ण व्यवस्था** -आर्यिका श्री विजयमती माताजी	46
8.	**'खानदान-शुदि' शब्द नही, सिदान्त है** -प्राचार्य श्री नरेन्द्र प्रकाश जैन, फिरोजाबाद	52
9.	**खानदान और खानपान शुद्धि का महत्त्व** -पं. शिवचरनलाल जैन, मैनपुरी	55

मर्यादा की रक्षा हमारा कर्त्तव्य है

-आचार्यकल्प 108 श्री श्रुतसागर जी महाराज*

वर्ण और जातियों की प्राचीनता के संबंध में न जाने क्यों जब-तब शंकाएँ उठायी जाती रही हैं ? बिना सोचे-समझे इस व्यवस्था को कोसा जाता रहा है और आज भी आलोचना की जा रही है, किन्तु यदि पूर्वाग्रह रहित होकर गंभीरतापूर्वक अध्ययन-मनन करें तो परिणाम कुछ भिन्न निकलता है। पुराणों में ऐसा उल्लेख है कि भगवान आदिनाथ ने छद्मस्थ होते हुए भी गृहस्थावस्था में तीन वर्णों – क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की स्थापना की और चक्रवर्ती भरत ने भी गृहस्थावस्था में ही ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की, सो ठीक है। अब यदि विचार करें तो यह लक्ष्य में आए बिना रहेगा नहीं कि आदिनाथ और भरत से पूर्व तो कोई अन्य दर्शन व धर्म नहीं था, जिसका प्रभाव इन महापुरुषों पर पड़ा हो और उस आधार पर इन्होंने वर्णों की स्थापना की हो। पुनः यह भी कथन आता है कि कुलकर और नाभिराजा व मरुदेवी आदि क्षत्रिय वर्ण के थे। क्या इस कथन से यह ज्ञात नहीं होता कि वर्ण तो पहले से विद्यमान थे परन्तु व्यक्त नहीं थे। इन्होंने वर्णों को व्यक्त किया।

पुनश्च, क्षत्रिय वर्ण में जो विशेष प्रभावशाली व्यक्ति हुए उन्होंने भिन्न-भिन्न वंशों – इक्ष्वाकु, सूर्य, हरि, यादव आदि का निर्माण सामाजिक व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए किया, वह व्यवस्था सुचारुरीत्या आज भी चली आ रही है। इसी तरह वैश्यादि वर्णों में भी विशिष्ट प्रभावक व्यक्तियों ने

* आचार्य श्री वीरसागर महाराज के शिष्य (समाधिस्थ)

सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए जातियों का निर्माण किया, जो आज भी चल रहा है परन्तु आगम में इस संबंध में उल्लेख देखने में नहीं आता तथापि सामाजिक व्यवस्था ठीक बनाए रखने की आवश्यकता तो उन्हें भी थी।

आज सब मर्यादाओं का लोप हो रहा है। ऐसी जानकारी भी मिली है कि वर्तमान सरकार विधवा-विवाह और विजातीय-अंतरजातीय विवाहों के लिए जनता को प्रोत्साहन प्रलोभन दे रही है कि जो इन बंधनों को छोड़कर आगे आएगा उसे अच्छी नौकरी व पदोन्नति दी जावेगी। यह कोई नई बात नहीं है। बादशाही जमाने में भी कई लोगों ने ऐसे ही प्रलोभनों में फंसकर अपनी बहन-बेटियों के संबंध बादशाही जाति में (खानदान में) किये थे तथापि मर्यादावादी भारतीय संस्कृति अक्षुण्ण रूप से कायम रही और आगे भी रहेगी।

एक बात और ध्यान में रख लेना चाहिए कि इस हुण्डावसर्पिणी पंचमकाल में विधवा और विजातीय विवाहों से उत्पन्न हुई सन्तानों से जो जातियाँ बढ़ेंगी, उनका प्रलयकाल के अन्त में अवश्य विनाश होगा। बचेंगे वे ही जो सन्तानक्रम से अप्रकट रूप से शुद्ध चले आ रहे होंगे। वे ही विजयार्ध की गुफाओं में कुछ तो स्वयं चले जावेंगे और कुछ की रक्षा करते हुए देव ले जावेंगे क्योंकि सज्जातित्व में जो गुण होते हैं वे संकरता से उत्पन्न हुए जीवों में नहीं होते, अतः यह निश्चित समझिए कि जैसे-जैसे सज्जाति संगठन की परम्परा ढीली पड़ेगी त्यों-त्यों धार्मिक संस्कार और विचारों का भी अभाव होगा, जो आज प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है।

उपर्युक्त विषय के संबंध में वर्तमान में समाज के कुछ श्रीमान् गृहस्थाचार्य और धर्माचार्य भी परम्परागत लौकिक और पारलौकिक परिणति रूप मर्यादाओं को रूढ़िवाद का फतवा देकर समाज की श्रेष्ठता का घात कर उसे चतुर्थ वर्णी बनाने में लगे हैं किन्तु उन्हें यह ध्रुव सत्य जान लेना चाहिए कि उत्पत्ति रूप उच्चता का अभाव नहीं होगा। किसी काल में व्यक्तता-अव्यक्तता तो हो सकती है। यह कोई रूढ़िमात्र नहीं है, अनादि संस्कारों से पनपती हुई संस्कृति है। समाज के इन तथाकथित सुधारकों के संबंध में भी विशेष कुछ नहीं कहना कारण जिनकी स्वयं की ऐसी उत्पत्ति है तथा जो स्वयं ऐसे वातावरण व संगति में पले हैं वे वैसा ही प्रचार कर अपनी संख्या बढ़ाने का प्रयत्न तो करेंगे ही, पर आज भी दृष्टि फैला कर देखें तो मर्यादा में निष्ठा रखने वाले चतुर्वर्णों के लोग परम्परागत भारतीय संस्कृति का दृढ़ता से श्रद्धापूर्वक अनुसरण कर रहे हैं, कुछ

ही ऐसे हैं जो स्वयं नष्ट-भ्रष्ट होकर दूसरों को भी अपने समान बनाने में लगे हैं। जिस प्रकार चूहों की रक्षा का कानून बिल्ली के द्वारा नहीं बनाया जा सकता, उसी प्रकार समाज व धर्म की उपेक्षा व उल्लंघन करने वालों के द्वारा मर्यादा व संस्कृति की रक्षा नहीं हो सकती। इस विषय में 'ला रिपोर्ट' पृष्ठ 261 पर एक फैसले में प्रीवी कौंसिल का निर्णय स्पष्ट है, यह एक मंदिर व जाति से ही सम्बद्ध है।

वादी ने प्रतिवादी बेला पर जिसकी माँ क्रिश्चियन थी और पिता पारसी था और जिसका पालन-पोषण पारसी वातावरण में हुआ था, इस अनशन का केस दायर किया कि बेला को पारसी मंदिर में आने से रोका जाए। यद्यपि बेला ने इस पर दलील दी कि मैं पारसी धर्म मानती हूँ और मेरा पिता पारसी था, लोअर कोर्ट और प्रीवी कौंसिल ने यह कहते हुए मंदिर में आने से रोक दिया कि वह जन्म से पारसी नहीं है। यदि उसको आने दिया जाता है तो ट्रस्टियों के लिए नियत नियमों का उल्लंघन होता है।

आज भी भारत में सामाजिक व धार्मिक मर्यादाएँ बराबर बनी हुई हैं।

अधिकांश लोग उन्हीं का अनुसरण कर रहे हैं किन्तु सुधारवाद के नाम पर कुछ लोग उन्हें तोड़ने और तुड़वाने में अग्रसर हो रहे हैं जिससे यह उक्ति चरितार्थ हो रही है–

होत भले के सुत बुरो, बुरो भले के होय।
दीपक के काजल प्रकट, कमल कीच में होय।।

जिन समाजों को धरेजा-नाता आदि की प्रथा के कारण हीन कहा जाता है वे तो उसमें सुधार कर मर्यादानिष्ठ बन रहे हैं और हम मर्यादा का उल्लंघन कर और दूसरों से करवा कर अपने समाज को पतन के गर्त में गिराने में लगे हैं। क्या मर्यादा की रक्षा करना हमारा कर्तव्य नहीं है ?

'सर्वार्थसिद्धि' में पूज्यपादाचार्य ने आर्य पांच प्रकार के कहे हैं– क्षेत्र आर्य, कर्म आर्य, जाति आर्य, दर्शन आर्य और चारित्र आर्य। इससे भी यह सिद्ध होता है कि जाति पूज्यपादाचार्य से पहले भी थी। सोमदेव सूरि ने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों को रत्नों की भांति जन्म से ही विशुद्ध माना तथा इनको ही जैनेश्वरी दीक्षा का पात्र या अधिकारी बताया। शूद्रों को उन्होंने आगमोक्त अपने पद के अनुकूल, आत्मकल्याण के लिए धर्मसाधना करने का अधिकारी माना है। अब रही कि उन्होंने आहार देने के योग्य चारों वर्णों के मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) को

कहा है अर्थात् मानसिक, वाचिक, कायिकरूप से धर्मसाधन कर पुण्यसंचय करने के लिए सभी समान हैं। इस विषय में विचार करने की आवश्यकता है कि जो दीक्षा का अधिकारी नहीं वह आहारदान का अधिकारी कैसे हो सकता है ? इधर सोमदेवसूरि के वचनों को भी गलत नहीं कह सकते, उनके अभिप्राय पर चिन्तन करने की आवश्यकता है। जैसे शूद्र और त्रैवर्णिक रजस्वला स्त्री आहार के समय सम्मुख न आकर भी मन में आहारदान की अनुमोदना कर महान पुण्य संचय करते हैं तथा त्रैवर्णिक हीनांगी और विकलांगी स्त्री-पुरुष मन-वचन के माध्यम से अनुमोदना कर व सहयोग देकर ही महान पुण्याधिकारी बनते हैं, उपर्युक्त बाधाओं से रहित त्रैवर्णिक स्त्री-पुरुष ही साक्षात् अपने कर से आहार देकर संसार छेद का कारण सातिशय पुण्य अर्जन करते हैं, इस प्रकार आहारदान के प्रसंग में कोई मन से, कोई मन-वचन से तथा कोई मन-वचन-काय के द्वारा पुण्य संचय करने के अधिकारी हैं, सब अपनी-अपनी योग्यतानुसार कार्य करते हैं और करने भी चाहिए, यही आगमोक्त विधान है परन्तु वास्तविक तथ्य को जानते व देखते हुए भी जो खींचातानी के माध्यम से आर्षमार्ग को विकृत करना चाहते हैं और कर रहे हैं, यह उनका अनुचित कृत्य है और उनकी अधमता का द्योतक है। मर्यादा की रक्षा करने में ही सबका हित है।

वर्ण व्यवस्था

–आचार्यकल्प 108 श्री श्रुतसागर जी महाराज (समाधिस्थ)

पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के दुष्प्रभाव तथा केवली-कथित पुनीत वाणी की अनभिज्ञता अथवा अवमानना से गत कुछ वर्षों में स्वच्छन्दाचार का पोषण करने वाला साहित्य भी प्रकाश में आया है। इस साहित्य ने आर्य जाति की मूल संस्कृति वर्ण व्यवस्था को ही छिन्न-भिन्न करने का दुष्प्रयास किया है। वर्ण व्यवस्था जाति, समाज, देश, धर्म सबकी उन्नति के लिए हितकारी साधन है। फ्रांसीसी पादरी दुव्वाय ने कहा है कि जाति की व्यवस्था ने ही भारत को बर्बरता में गिरने से बचाया है।

यह तो सर्वथा अविवादास्पद तथ्य है और मनोवैज्ञानिकों ने भी इसे स्वीकार किया है कि जीवन में संस्कार और संगति का बहुत महत्त्व है। अध्यात्मप्रधान भारत देश में जड़ भौतिक संस्कृति का संसर्ग कितने चमत्कार दिखा रहा है, यह सबके अनुभव की बात है। आज का शिक्षित युवा वर्ग आचार-विचारों को रूढ़िवाद मानकर उनका उल्लंघन करने में अपना गौरव समझता है और दिनानुदिन स्वेच्छाचार व उच्छृंखलतापूर्ण प्रवृत्ति करता है। यों तो मनुष्य की अपेक्षा से मनुष्य मात्र एक ही है परन्तु उपाधिधारी बन जाने के बाद भी व्यक्ति के कुल व जातिगत संस्कार समय पर जाग्रत होकर अपना रंग दिखाते ही हैं, यह भी अनुभव सिद्ध बात है।

'वर्ण व्यवस्था' पर गंभीरतापूर्वक विचार करें तो ज्ञात होगा कि यह व्यवस्था अनादिकाल से चली आ रही है। यह अनादिनिधन है। किसी ने इसका सर्वथा काल्पनिक ढंग से नवीन निर्माण नहीं किया है क्योंकि जैनदर्शन कभी भी किसी क्षेत्र में या किसी भी काल में सत् का सर्वथा विनाश और सर्वथा असत् की उत्पत्ति नहीं मानता। हाँ, कालचक्र के परिवर्तन के कारण जब यहाँ भोगभूमि की प्रवृत्ति हुई तब यह व्यवस्था तिरोभूत हो गई थी। इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे में जब पल्य का 8वाँ भाग शेष रहा तब क्षत्रिय वर्ण में चौदह कुलकरों की क्रमशः उत्पत्ति हुई थी। सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य 'त्रिलोकसार' में कहते हैं कि–

पल्लट्ठमं तु सिट्ठे तदिए कुलकरणरा पडिस्सुदिओ।
इहखत्तियकुलजादा केइज्जाइब्भरा ओही।।792-794।।

इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान आदिनाथ के बहुत काल पूर्व भी जब क्षत्रिय वर्ण था तब अन्य भी दो वर्ण अवश्य थे किन्तु उस समय वहाँ सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था के अभाव में वे तिरोभूत थे। भोगभूमि की समाप्ति पर कर्मभूमि की रचना से एवं उत्पन्न होने वाले पदार्थों से अनभिज्ञ और आकुलित जनता आदिनाथ के निकट पहुँची। आदि प्रभु जन्म से ही तीन ज्ञान के धारी थे, उन्होंने अपने अवधिनेत्र की सहायता से पूर्वापर विदेहों की व्यवस्था जानकर उसी प्रकार की व्यवस्था का विधान किया–

पूर्वापर विदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता।
साद्य प्रवर्तनीयात्र ततो जीवन्त्यमूः प्रजाः।।143।। पर्व 16 (आदिपुराण)

(भगवान आदिनाथ अपने मन में विचार करते हैं कि पूर्व और पश्चिम विदेहक्षेत्र में जो स्थिति विद्यमान है, वही स्थिति आज यहाँ प्रवृत्त करने योग्य है।)

इससे यह सिद्ध होता है कि वर्ण व्यवस्था अनादि की है कारण कि पूर्वापर विदेहों में शाश्वत कर्मभूमियाँ हैं अर्थात् अनाद्यनन्त काल तक वहाँ की व्यवस्था सदृश ही रही है और रहेगी अतः वर्ण व्यवस्था भी अनाद्यनन्त है। भरतक्षेत्र में यह व्यवस्था तिरोभूत हो गई थी अतः आदिप्रभु ने अपने अवधिज्ञान के बल से 'क्षतत्राणादि' गुणों के अनुसार तीन वर्णों की व्यवस्था की किन्तु भगवान ने स्वेच्छा से किसी को ऊँच-नीच नहीं बनाया अपितु वे अपने-अपने गुणों के कारण ही भिन्न-भिन्न संज्ञा को प्राप्त हुए थे। भगवान ने किसी भी मानव में गुणों एवं अवगुणों का आरोपण नहीं किया था। उनके गुणावगुण उनके स्वयं के थे।

कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। जहाँ निरन्तर सदृश प्रवृत्ति होती थी ऐसी भोगभूमि की परिसमाप्ति के तत्काल बाद ही इस प्रकार के गुणों एवं अवगुणों की प्रगटता में बीज और वृक्ष की भांति अनादि सन्तति से चले आए अपने-अपने वर्ण के संस्कार ही कारण थे। यही बात आदिपुराण के 42वें पर्व में कही गई है।

तत्कथं कर्मभूमित्वादद्यत्वे द्वितयी प्रजा।
कर्तव्या रक्षणीयैकाप्रजान्या रक्षणोद्यता।।10।।
रक्षणाम्युद्यता येऽत्र क्षत्रियाः स्युस्तदन्वयाः।
सोऽन्वयोऽनादिसन्ततत्या बीजवृक्षवदिष्यते।।11।।

(अर्थ–वह क्षत्रियों की सृष्टि किस प्रकार प्रवृत्त हुई थी ? समाधान यह है कि आज कर्मभूमि होने से प्रजा दो प्रकार की है– एक रक्षक और दूसरी रक्षा

किए जाने योग्य। जो प्रजा की रक्षा करने में तत्पर हैं उनकी वंश परम्परा को क्षत्रिय कहते हैं। यद्यपि यह वंश अनादिकाल की सन्तति से बीजवृक्ष के सदृश अनादिकाल का है तथापि क्षेत्रकाल की अपेक्षा से उसकी सृष्टि अर्थात् उत्पत्ति होती है। यहाँ उत्पत्ति से अभिप्राय प्रगटपना है नवीन उत्पन्न होना नहीं, कारण कि सर्वथा असत् की उत्पत्ति नहीं होती।)

उपर्युक्त प्रमाणों से यह बात सिद्ध होती है कि यह वर्ण व्यवस्था अविच्छिन्न धारा से आने वाले पिण्ड का ही परिणाम है जिसका उद्योतन गुणनिबन्धना है। वर्ण व्यवस्था कर्मनिबन्धना नहीं है, यदि कर्मनिबन्धना होती तत् कर्म का अभाव होने पर वर्ण का भी अभाव हो जाना चाहिए।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इन चतुर्वर्णों–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण में क्रिया की अपेक्षा चारों वर्णों की क्रियाएँ पाई जाती हैं, यथा–जो शक्ति विशेष से संयुक्त होते हुए रक्षा हेतु हथियार आदि धारण करते हैं, वे क्षत्रिय, जो भगवत्-भजन आदि विशेष करते हुए मद्य, मांस आदि का त्याग कर देते हैं वे ब्राह्मण, जो क्रय-विक्रय आदि में निपुण हैं वे वैश्य और जो सदा नीच कर्मों में ही रत रहते हैं वे शूद्र हैं। इसी भांति उच्च वर्णी के द्वारा यदि तेल की मिल खोल ली गई हो तो उसे तेली, शराब का व्यापार करने वाले को कलाल अथवा क्षत्रिय और शूद्र होते हुए भी वह यदि कपड़े का व्यापार करता है तो वणिक्, परचूनी के व्यापारी को मोदी आदि कहा जाता है।

इस प्रकार प्रत्येक वर्ण में क्रियाओं की अपेक्षा चारों वर्णों के सदृश कार्य दिखाई देते हैं। इन क्रियात्मक वर्णों में परिवर्तन भी हो जाता है जैसे कपड़े का व्यापार करने वाला वैश्य जब कपड़े का व्यापार बंद करके सोने-चांदी के जेवर आदि बनाने का कार्य करने लगता है तब वह सुनार कहा जाता है।

ऐसा परिवर्तन केवल क्रिया-व्यवसाय, आजीविका, आचरण के कारण होता है, मूल में तो वह जिस वर्ण में उत्पन्न हुआ है वही वर्ण रहेगा अर्थात् उनके सामाजिक सभी कार्य अपने-अपने वर्ण में होंगे। शराब का ठेका लेने वाले ब्राह्मण की कन्या का विवाह कलाल के लड़के से और भगवत् भक्ति करने वाले चांडाल की पुत्री का विवाह क्षत्रिय पुत्र से नहीं होता। कर्म परिवर्तन से पिण्ड परिवर्तन या वर्ण परिवर्तन नहीं हो सकता। यह बात तो केवल बाह्य प्रवृत्तियों की है किन्तु अन्तरंग में यदि सम्यग्दर्शन आदि गुण भी प्रगट हो जाए तो भी उस

भव में उसके पिण्ड या वर्ण में परिवर्तन नहीं होता।

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं–

सम्यग्दर्शनसम्पन्न-मपि मातंग देहजम्।
देवादेवं विदुर्भस्म-गूढ़ांगारान्तरौजसम्।।28।।

अर्थात् सम्यग्दर्शन संयुक्त मार्तंड को दिया गया यह विशेषण–'भस्म गूढांगारा.....' इस बात का अभिव्यंजक है कि सम्यग्दर्शन हो जाने पर उसके वर्ण का परिवर्तन नहीं होता। यहाँ उपमान और उपमेय भाव के द्वारा यह दर्शाया गया है कि चांडाल और चाण्डाली के रजवीर्य से बना हुआ मातंगदेह अनुत्तम होने से भस्म स्थानीय है, जीव अंगारस्थानीय है और सम्यक्त्व ओजस्थानीय है। जब तक अंगार भस्म से नहीं निकलता तब तक उसका प्रकाश आदि कार्यकारी नहीं है, इसी प्रकार जब तक चाण्डाल का जीव देह में रहेगा तब तक वह कार्यकारी नहीं होगा, वह चाण्डाल ही कहलायेगा।

आज के भौतिकताप्रधान वातावरण में कुछ लोगों को यह भ्रान्ति हो गई है कि वर्णों का निर्माण क्रिया की अपेक्षा से हुआ है अतः क्रिया के परिवर्तन से वर्ण में परिवर्तन आ जाता है।

यदि सर्वथा क्रिया से ही वर्ण मान लिया जाए तो पूज्यपाद स्वामी के 'वर्णेनार्हद्रूपायोग्यानाम्' अर्थात् वर्ण से जो अर्हतलिंग के अयोग्य है–इन वचनों का तथा गुणभद्र स्वामी के–'सोऽन्वयोऽनादिसन्तत्या बीज-वृक्ष-वदिष्यते' अर्थात् वह अन्वय बीज और वृक्ष की तरह अनादि सन्तति से चलता रहता है एवं 'अच्छेद्योमुक्तियोग्यायाविदेहजाति सन्ततेः' अर्थात् अविच्छिन्न उत्पत्ति के कारण विदेह क्षेत्र में मुक्ति योग्य जाति सन्तान का विच्छेद नहीं है, इन वचनों का निरसन होता है और दूसरी बात यह भी है कि क्रिया के परिवर्तन से वर्ण-परिवर्तन की यह व्यवस्था सम्पूर्ण जीवों पर लागू नहीं होती, जैसे–

(1) गर्भस्थ बालक तथा 5-6 वर्ष तक का बालक कोई क्रिया नहीं करता, तब उसके किसी वर्ण की सिद्धि नहीं होगी।

(2) नीच गोत्र के उदय से युक्त भोगभूमिज तिर्यंच कभी पाप प्रवृत्ति में रत नहीं होते अतः आचरण भेद से उन्हें उच्चगोत्री मानना पड़ेगा।

(3) उच्चगोत्र के उदय से युक्त कितने ही देव क्रीडानिमित्त अशुचि आदि पदार्थों में प्रवृत्ति करते देखे जाते हैं अतः उस दुराचारवश उन्हें नीचगोत्र का उदय मानना पड़ेगा।

(4) नीच गोत्री जिन नारकियों के तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता है, उनकी आयु जब छह माह शेष रह जाती है तब उनके आचरण में भिन्नता आ जाती है अर्थात् वे मार-काट आदि हिंसा-रूप हीनाचरण नहीं करते अतः उन्हें भी उच्चगोत्री मानना पड़ेगा।

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में वर्ण उत्पत्ति की अपेक्षा और कर्म-क्रिया की अपेक्षा से दो प्रकार के होते हैं–

(1) जिस वर्ण के माता-पिता के रजवीर्य से पौद्गलिक शरीर की रचना (उत्पत्ति) होती है वह उत्पत्ति वर्ण कहलाता है और यह वर्ण पर्याय के अन्त तक रहता है, इसमें परिवर्तन नहीं होता। जैसे–मृत्तिकापिण्ड से बना घड़ा मिट्टी का, ताम्रपिण्ड से बना तांबे का, रजतपिण्ड से बना चांदी का और स्वर्णपिण्ड से बना हुआ घड़ा अपनी पर्याय पर्यन्त उसी-उसी पिण्ड का कहा जाता है।

(2) दूसरे, यह प्राणी चारों वर्णों के कार्यों में से जब जिस वर्ण के अनुकूल कार्य (व्यवसाय) करने लगता है तब उसकी उसी वर्ण के नाम से प्रख्याति हो जाती है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। मिट्टी, तांबा, चांदी या स्वर्ण से बने घटों में जब घी भर देते हैं तब वे घी के, दूध से भर देने पर दूध के और जल से भर देने पर जल के कहे जाते हैं किन्तु मूल में तो मिट्टी, तांबा, चांदी या स्वर्ण के ही रहते हैं, उसमें परिवर्तन नहीं होता।

इसी प्रकार प्रत्येक वर्ण के अन्तर्गत क्रिया के निमित्त से वर्ण परिवर्तनशील होते हैं परन्तु उत्पत्ति वर्ण का परिवर्तन प्राप्त हुई पर्याय के अन्त तक नहीं होता।

पारलौकिक या आध्यात्मिक दृष्टान्त से भी यही बात सिद्ध होती है–

(1) आगम में उपयोग दो प्रकार का कहा है–1. शुद्धोपयोग 2. अशुद्धोपयोग। इसमें अशुभोपयोग और शुभोपयोग के भेद से शुद्धोपयोग दो प्रकार का है। इनमें से अशुभोपयोग अधोगति का और शुद्धोपयोग मोक्ष का कारण है। अब रहा शुभोपयोग यह सम्यग्दृष्टि जीव के धर्मध्यानपूर्वक होता है और इसे आगम में परम्परा मोक्ष का कारण कहा है, फिर भी श्रेणी में इसे हेयरूप ही कहा है क्योंकि उसकी उत्पत्ति अशुद्धोपयोग से हुई थी अर्थात् जिस प्रकार अशुद्धोपयोग से उत्पन्न होने वाला शुभोपयोग मोक्षमार्ग में सहयोगी होते हुए भी अन्त में अशुद्धोपयोग ही रहा, प्रशस्त कार्य करते हुए भी शुद्धोपयोग की संज्ञा को नहीं प्राप्त कर सका, उसी प्रकार प्रशस्त आचरण करते हुए भी उत्पत्ति वर्ण वहीं का वहीं रहता है, उसमें परिवर्तन नहीं आता।

(2) समयसार के पाप पुण्य अधिकार के प्रारंभ में आचार्यश्री ने कहा है कि एक शूद्री के दो पुत्र उत्पन्न हुए, उनमें से एक का पोषण तो ब्राह्मण के घर हुआ अतः वह 'उपनयनवशात् ब्राह्मणोजातः' यज्ञोपवीत के कारण ब्राह्मण कहलाया और दूसरा 'उपनयनाभावाच्छूद्र' उपनयन के अभाव से शूद्र ही है-तथापि दोनों शूद्र ही हैं क्योंकि दोनों की देह रचना शूद्र के रज वीर्य से हुई थी। इस दृष्टान्त से भी यही सिद्ध होता है कि उत्पत्ति वर्ण का परिवर्तन नहीं होता।

(3) एक मिथ्यादृष्टि जीव करणलब्धि के अनन्तर उपशमसम्यक्त्व को प्राप्त कर सम्यक्त्व के प्रभाव से मिथ्यात्व के तीन खण्ड करता है–मान लो मिथ्यात्व का द्रव्य 32 है, उसमें 4 का भाग देकर बहुभाग (24) को मिथ्यात्व में दिया, शेष रहे 8 में 4 का भाग देने पर बहुभाग 6 मिश्र को तथा 2 भाग सम्यक्त्व प्रकृति को दिया तथा अन्तर्मुहूर्त बाद सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि होकर जब भी क्षायिक सम्यक्त्व के सम्मुख होता है तब अनन्तानुबंधी का विसंयोजन करके मिथ्यात्व के द्रव्य को मिश्र एवं सम्यक्त्व प्रकृति में देता है, फिर मिश्र को सम्यक्त्व प्रकृति में देता है, अनन्तर सम्यक्त्व प्रकृति का स्वमुख से नाश करता हुआ कृतकृत्यवेदक होता है। ये सभी क्रियाएं सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में ही होती है उसके बिना क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो सकता। इस विषय में सम्यक्त्व प्रकृति परमोपकारी है फिर भी आचार्यों ने उसे पाप प्रकृति कहा है क्योंकि मूल में उसकी उत्पत्ति मिथ्यात्व से हुई है अर्थात् वह मिथ्यात्व का ही अंश है। अंशी से अंश भिन्न नहीं हो सकता। इसी प्रकार वर्ण व्यवस्था में जो हम कहते हैं कि क्रिया से जो वर्ण होता है वह परिवर्तनशील है सो होता रहे परन्तु जिस वर्ण के रज वीर्य से जिसकी उत्पत्ति होती है उस वर्ण का उस पर्यायपर्यन्त परिवर्तन नहीं होता क्योंकि सन्तति रूप से अंशी से अंश भिन्न नहीं होता, जैसा ऊपर कह आए हैं।

जिस धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति को व्यवस्थित बनाये रखने के लिए इस वर्ण व्यवस्था का विधान भगवान आदिनाथ के द्वारा हुआ था उसमें आज अनेक प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न होने लगी हैं। इसका कारण यह है कि आज न तो अपने वर्ण की निश्चित आजीविका अपने वर्ण में सीमित रही है और न व्यवहार की ही सीमा रही है। आदिपुराण पर्व 16 में कहा है कि–

स्वामिमां वृत्तिमुत्क्रम्य यस्त्वन्यां वृत्तिमाचरेत्।
स पार्थिवैर्नियन्तव्यो वर्णसंकीर्णिरन्यथा।।248।।

अर्थात् उस समय भगवान ने यह भी नियम प्रचलित किया था कि जो कोई अपने वर्ण की आजीविका छोड़कर अन्य वर्ण की आजीविका करेगा वह राजा के द्वारा दण्डित किया जायेगा क्योंकि ऐसा न करने से (दण्डविधान के अभाव में) वर्ण संकीर्णता हो जाएगी अर्थात् सब वर्ण एकमेव हो जायेंगे, कोई विभाग रहेगा ही नहीं।

इस दृष्टि से आज की स्थिति का अवलोकन करें तो बड़ी विषमता फैलती दिखाई देने लगी है। कुछ धीमान् और श्रीमान् अपनी बुद्धि और लक्ष्मी के बल पर आदिप्रभु की व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने के लिए विवाह और आजीविका के माध्यम से (अन्य-अन्य जातियों में शादी-ब्याह करके एवं नाना प्रकार के अकरणीय उद्योग करके) मात्र संकरता ही उत्पन्न नहीं कर रहे हैं बल्कि आगम और आचार्यों को अप्रमाणिक घोषित करके धर्म को ही दूषित कर रहे हैं। तीन वर्ण अनाद्यनन्त हैं और उन वर्णों में कुल अनेक हो सकते हैं जैसे भरतादि महापुरुषों का जन्म क्षत्रिय वर्ण में और उस क्षत्रिय वर्ण के अन्तर्गत इक्ष्वाकुवंश, सोमवंश, सूर्यवंश आदि अनेक वंश थे। गोत्र एवं जाति भी वर्ण के अन्तर्गत ही होती है जैसे भगवान आदिनाथ ने क्षत्रिय वर्ण के इक्ष्वाकुवंश और काश्यपगोत्र में जन्म लिया था।

आठ कर्मों में गोत्र नाम का एक कर्म है, इसके उच्च गोत्र और नीच गोत्र नाम से दो भेद हैं अथवा छह भेद भी हैं– उच्च, उच्च उच्च, उच्चनीय, नीच उच्च, नीच और नीच नीच।

'गोत्रद्विविधं–उच्चैर्गोत्रं, नीचैर्गोत्रं। यस्योदयाल्लोकपूजितेषुकुलेषु जन्म कारणं तदुच्चैर्गोत्रं, तत् विपरीतगर्हितेषु जन्म कारणं नीचैर्गोत्रं।'

कर्म सन्तति अनाद्यनन्त है अतः ये उच्च और नीचगोत्र भी अनादि हैं। अपने-अपने कर्मानुसार प्रत्येक जीव इन्हीं में जन्म लेकर उच्च एवं नीचगोत्री ही कहलायेंगे। इसका कोई विनाश नहीं कर सकता। हाँ, इनमें संकरता उत्पन्न करके अपने आपको नीचगोत्र का पात्र अवश्य बनाया जा सकता है।

वर्ण, वंश एवं गोत्र के समान ही जाति भी अनाद्यनन्त है। यशस्तिलकचम्पू के आठवें आश्वास में सोमदेवसूरि ने कहा है कि–

जातयोऽनादयः सर्वास्तत्क्रियापि तथा विधा.....।।18।।

अर्थात् समस्त जातियाँ (बीज और वृक्ष की भांति) अनादि हैं और उनकी क्रियाएं भी अनादि ही हैं।

कुल, जाति और सज्जाति की परिभाषा भगवज्जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण के 39वें पर्व में इस प्रकार की है–

पितुरन्वयशुद्धिर्यां तत्कुलं परिभाष्यते।
मातुरन्वयशुद्धिस्तु, जातिरित्यभिलप्यते।।85।।
विशुद्धिरुभयस्यास्य सज्जातिरनुवर्णिता.....।।86।।

अर्थात् पिता के वंश की शुद्धि को कुल और माता के वंश की शुद्धि को जाति कहते हैं तथा कुल और जाति इन दोनों की विशुद्धि को सज्जाति कहते हैं और इस सज्जातिरूप सम्पदा से ही पुण्यवान मनुष्य उत्तरोत्तर उत्तम वंशों को प्राप्त होते हैं। जैसे–

विशुद्धकुलजात्यादि सम्पत्सज्जाति रुच्यते।
उदितोदित वंशत्वं यतोऽभ्येति पुमान् कृति।।84।।

शुद्ध कुल और शुद्ध जाति में जो उत्पन्न हुए हैं उन्हें ही सज्जातित्व परमस्थान प्राप्त हुआ है व होगा। सज्जातित्व आदि सात परमस्थानों में अंतिम परमस्थान मोक्ष है।

इस प्रकार अनाद्यनन्त वर्ण, वंश और जाति को यथारूप सुरक्षित रखने के लिए उद्योग (व्यापार) एवं विवाह आदि क्रियाएँ आगमानुसार ही होनी चाहिए थीं किन्तु आज ऐसा नहीं देखा जाता, सर्वत्र संकरता उत्पन्न होती जा रही है जिससे मनुष्यों की बुद्धि में विपर्यास उत्पन्न हो रहा है। तीसरे काल की सामाजिक व्यवस्था के आदर्श का निरूपण करते हुए आचार्यदेव आदिपुराण के 16वें पर्व में कहते हैं कि–

यथास्वं स्वोचितं कर्म प्रजा दधुरसंकरम्।
विवाहजातिसंबंधव्यवहारश्च तन्मतम्।।187।।

अर्थात् उस समय प्रजा अपने-अपने योग्य कर्मों को यथायोग्य रूप से करती थी। अपने वर्ण की निश्चित आजीविका को छोड़कर कोई दूसरी आजीविका नहीं करते थे इसलिए उनके कार्यों में भी कभी संकरता नहीं होती थी। उनके विवाह, जाति संबंध तथा व्यवहार आदि सभी कार्य भगवान आदिनाथ की आज्ञानुसार ही होते थे। उपर्युक्त श्लोक में 'तन्मतम्' पद विशेष विचारणीय है कि जब आदिनाथ प्रभु गृहस्थावस्था में असंयमी थे तब तो प्रजाजन सामाजिक, धार्मिक लोकव्यवहार से संबंधित सभी कार्य उनकी आज्ञानुसार करते थे और आज हम इतने कुटिल हो गए हैं कि केवलज्ञान ज्योति द्वारा इष्ट एवं तदनुरूप

कथित उन्हीं आदि तीर्थंकर की आज्ञा का उल्लंघन करते हुए स्वयं अनर्गल प्रवृत्तियाँ करते हैं, करने वालों की अनुमोदना करते हैं और नहीं करने वालों को उस आज्ञा का लोप करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। इतना ही नहीं बल्कि भगवान की आज्ञानुसार शास्त्र रचना करने वाले आचार्यों को ही गलत सिद्ध करते हैं। स्वार्थपूर्ति के लिए मनुष्य का कितना पतन हो रहा है।

कतिपय तथाकथित सुधारवादी लोगों का यह तर्क है कि इस पंचमकाल में वर्ण व्यवस्था की आवश्यकता नहीं है, इसकी आवश्यकता उस काल में थी जब मोक्षमार्ग चालू था, इस काल में तो मोक्षमार्ग बन्द है। ऐसी तर्कणा भोले जीवों की श्रद्धा का कारण बन जाती है परन्तु भाई! हम यह तो सोचें कि अपने अवधिज्ञान से पूर्व और पश्चिम विदेह क्षेत्रों की स्थिति देखकर भगवान आदिनाथ ने जो मार्ग चलाया था या बतलाया था वह भगवान महावीर के शासनकाल व इन पिछले 2500 वर्षों तक तो अक्षुण्ण रूप से चला आया, अब उसे छिन्न-भिन्न करने की क्यों व किसे आवश्यकता आ पड़ी ? हमारी समझ में तो उत्पत्ति व विचारों से पतित प्राणी ही इस प्रकार की आगमविरुद्ध व्यवस्था की सलाह दे सकते हैं, आदर्श और आदर्श मार्ग पर चलने वाले नहीं। जिनेन्द्र की आज्ञा का तथा पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ रूप से श्रद्धान करना ही ज्ञानीपने का द्योतक है।

यदि जातिसंकर मनुष्य साधुओं को आहार देता है तो वह कुभोगभूमि में जाता है अतः संकरता से उत्पन्न हुए गृहस्थों के यहाँ साधु आहार नहीं करते। यदि अनजाने आहार हो भी जावे, तो प्रायश्चित्त लेते हैं। जानबूझ कर भी ऐसे श्रावकों के यहाँ आहार करना या करने वालों का समर्थन करना आगम व श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती आदि आचार्यों पर अश्रद्धा व अज्ञान का द्योतक ही है। भगवज्जिनसेन ने कहा है कि लोकव्यवहार में भी अधिकारों के विषय में विजाति-विवाह से आपत्ति आती है। दायक अर्थात् धन सम्पत्ति की अधिकारी भी सज्जाति से उत्पन्न हुई सन्तान ही होती है तथा समाज की ओर (साक्षी) से पगड़ी भी उसी को बंधाई जाती है। कन्या से उत्पन्न हुआ पुत्र, पुनर्विवाह से उत्पन्न हुआ पुत्र, स्वयं दूसरों को गोद दिया हुआ पुत्र, शूद्र स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र, गूढ़ रूप से उत्पन्न हुआ पुत्र, पुत्र अवश्य है पर पिता की सम्पत्ति का वारिस (अधिकारी) नहीं हो सकता। उत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति निरन्तर ग्रंथों के वाचन करते रहने पर भी उतनी नहीं होती जितनी चारित्र व तप के माध्यम से ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है।

वर्तमान काल में तथाकथित सुधारकों द्वारा उपदेशादिक में कहा जाता है कि इस खींचातानी से समाज का ह्रास हो रहा है परन्तु जैनधर्म व समाज जिस बुनियाद पर खड़ा है वह बुनियाद ही जैनधर्म है, इसके विपरीत संसारी जीवों में विषयासक्ति की वृद्धि ही जैनत्व का ह्रास होना है, संख्या का कम होना ह्रास नहीं, संख्या का बढ़ना वृद्धि नहीं, परन्तु जैनधर्म के रक्षक व पोषक गुण जो नष्ट हो रहे हैं या जो करने में लगे हैं, वही वास्तव में ह्रास है। पर संख्यावृद्धि के इच्छुक विद्वानों की विचारधारा है कि अति कठोरता के व्यवहार के कारण अर्थात् पतितों को अपने में न मिलाने के कारण संख्या घटती जा रही है। बंधुओं! पतितों को अपने में न मिलाने के कारण संख्या ज्यादा दिख सकती है पर कहावत है कि–

'चार-चार चौरासी वाणिया, क्या करे अकेला वाणिया'

वास्तविक जैनत्व वहाँ है मद्य-मांस-मधु (संकल्पी हिंसा) का त्याग कर परिणामों में कुछ निर्मलता की जागृति की जाती है, इस दशा में सिद्धान्त पर जो आस्था बनती है वही जैनत्व का चिन्ह है। मात्र वैज्ञानिकता व एकान्त से शुद्ध पदार्थों का स्वरूप तो आज समझाया जाता है पर अभक्ष्य (अखाद्य) पदार्थों का त्याग न तो कराया ही जाता है और न स्वयं ही करते हैं, ऐसी स्थिति में वास्तविक श्रद्धा और ज्ञान नहीं कहा जा सकता। कहा भी है कि वह ज्ञान, ज्ञान ही नहीं जहाँ चारित्र नहीं। जहाँ श्रद्धा होगी वहाँ आगमोक्त मार्ग का उल्लंघन नहीं होगा, तदनुरूप ही आचरण होता, जब तक अन्तरंग में अभक्ष्य पदार्थों तक से विरक्ति नहीं तब तक जैन तत्त्वों का आत्मप्रदेशों पर असर ही नहीं हो पाता ऐसी स्थिति में केवल वक्तृत्व के बल पर शिष्टाचार पूरा करना ही रह जाता है।

इस विषय में हमारी समझ में तो इतना ही है कि उच्च गोत्री तीन वर्णों को ही मोक्ष का अधिकारी माना है, वह भी तभी तक जब तक वे अपनी-अपनी जातियों की संकरता से रक्षा करते रहे हों। आगम में पशु-पक्षी मात्र को नीच गोत्री कहा है (चाहे वह हंस हो या बगुला, गाय हो या शूकर) इसका मूल कारण है– वीर्य संकरता। जाति और वर्णसंकरता से रहित तो वे हैं परन्तु वीर्य संकरता से वे अपनी रक्षा नहीं कर सकते– 'मात तिया सम भोगी पापी'

शूद्रों में जो कुल परम्परा से चली आई वीर्य संकरता है वह तो विद्यमान है परन्तु उनके जाति-संगठन व सामाजिक बंधन इतने मजबूत हैं कि यदि कोई समाज में अन्य जाति की कन्या व स्त्री से संबंध करता है तो समाज उसे दण्ड

देकर बरबस छुड़ा देते है परन्तु परम्परा से चली आ रही वीर्य संकरता को रोकना तो उनके हाथ की भी बात नहीं है। हम उच्चगोत्री कहलाने वालों में संकरता का अभाव था पर वर्तमान में तो सभी संकरता की जाग्रति में ही लगे हैं अतः उन नीच गोत्री पशु-पक्षियों से भी हीन हुए।

'यह सुनिर्णीत है कि माता-पिता के रज-वीर्य का संस्कार सन्तान में रहता ही है, जाता नहीं। जैसे-शेर का बच्चा श्रृगालों की टोली में रहने पर भी हाथी पर हमला करता ही है और श्रृंगाल शेरों के साथ रहते हुए भी भाग जाता है। इसी प्रकार यह मनुष्य दरिद्रता आने पर रंक या निर्धन कहलाता है तथा सम्पन्नता होने पर सेठ, साहूकार व्यापारी बन जाता है अथवा चुनावों में विजय प्राप्त कर बड़े नेता का बाना धारण कर लेता है। इतना होने पर भी वर्तमान पर्याय के संस्कार जाते नहीं। कारण जैसे रज-वीर्य के माध्यम से शरीर, मन और मस्तिष्क की रचना हुई है वैसे ही आचार-विचारों में उसका जीवन बीतता है तथा उसी जाति के मनुष्यों के साहचर्य और खान-पान का प्रभाव भी उस पर पड़ता है।

पिता के वंश की शुद्धि कुलशुद्धि कहलाती है और माता के वंश की शुद्धि जाति शुद्धि। दोनों की शुद्धता से 'सज्जाति' कही जाती है। सज्जातित्व सम्पन्न मनुष्य ही रत्नत्रय की प्राप्तिरूप प्रव्रज्या के अधिकारी हैं।'

आगम के आलोक में वर्ण-गोत्र आदि की स्थिति

– आचार्यकल्प 108 श्री श्रुतसागर जी महाराज

इस हुण्डावसर्पिणी काल में भगवान आदिनाथ ने जिस समय वर्णों का विधान किया था, उस समय जीवों के पिण्ड की अशुद्धता रूप संकरता नहीं थी अर्थात् पिण्ड शुद्ध ही था। शनैः शनैः जब विषयासक्ति और विलासिता बढ़ी तो विवेकहीन कामान्ध मानवों ने मानवता को तिलांजलि देकर अनर्गल व्यभिचारादि प्रवृत्तियों के द्वारा नीच गोत्र को प्रश्रय दिया।

तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वामी आचार्य ने गोत्र दो प्रकार के बतलाए हैं– 1. उच्च गोत्र और 2. नीच गोत्र।

मनुष्य तथा तिर्यंच पर्याय में स्थित जीव यदि देवायु का बंध करता है तो देवायु के साथ उच्च गोत्र का ही बंध करता है क्योंकि देव पर्याय में देव आयु व उच्च गोत्र का ही उदय रहता है, चाहे वह भवनत्रिक में उत्पन्न हो या कल्पवासियों में अथवा किल्विषक आदि हीन देवों में।

इसी प्रकार, मनुष्य या तिर्यंच पर्याय में स्थित जीव यदि नरकायु का बंध करता है तो उसी समय उसके नरकगति व नीच गोत्र का ही उदय होगा, चाहे वह कृतकृत्यवेदक हो, क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो अथवा तीर्थंकर प्रकृति का बंधक ही क्यों न हो। उस पर्याय के साथ नीच गोत्र का ही उदय रहेगा।

देव, नारकी, तिर्यंच या मनुष्य पर्याय स्थित जीव यदि मनुष्यायु बंध करता है तो उसके उच्च गोत्र या नीच गोत्र में से किसी एक का बंध होता है तथा मनुष्यायु के उदय के साथ कर्मभूमि के जीव के नीच अथवा उच्च गोत्र में से किसी एक का उदय होता है।

नीचगोत्र की उत्पत्ति के चार सामान्य कारण हैं–

1. व्यक्त नीचगोत्र–अनमेल जाति या अनमेल वर्ग अथवा विधवा-विवाह (धरेजा, नाता) व्यभिचार आदि से उत्पन्न हुई सन्तान नियम से नीचगोत्री ही होती है। उसकी सन्ततियों में से आई हुई सन्तान नीचगोत्री ही होगी।

2. अव्यक्त नीचगोत्र–काम के तीव्र आवेग में जिस स्त्री ने पर पुरुष के साथ गुप्तरूप से व्यभिचार सेवन किया, उससे जो सन्तान हुई वह समाज में अव्यक्त है परन्तु वह (सन्तान) नियम से नीचगोत्री ही होगी तथा सन्ततिक्रम से आने वाली उसकी सन्तान भी नीचगोत्री ही होगी।

3. क्षेत्र संबंधी नीचगोत्र—म्लेच्छ खण्ड में उत्पन्न होने वाले सभी मानव नीचगोत्री ही होते हैं। ये लोग धर्मक्रिया से रहित हैं, व्रतादि धर्मक्रिया नहीं करते अतः म्लेच्छ कहलाते हैं। धर्मक्रिया के सिवाय विवाह आदि उनके सब आचरण आर्यक्षेत्र में उत्पन्न होने वाले लोगों के समान हैं–

धर्मकर्मबहिर्भूता इत्यमी म्लेच्छकाः मताः।
अन्यथाऽन्यैः समाचारैरार्यावर्तेन ते समाः।।

(महापुराण सर्ग 31, श्लोक 142)

उनका पिण्ड (जिन पुद्गल वर्गणाओं से शरीर की रचना हुई है) शुद्ध है। ऐसे जीव यदि चक्रवर्ती के साथ आर्यक्षेत्र में आते हैं, तब (पिण्डशुद्धि की अपेक्षा) उनकी सन्तान उच्चगोत्री भी हो सकती है।

4. काल की अपेक्षा नीच गोत्र—दुःखमा-दुःखमा नमक छठे काल में उत्पन्न होने वाले जीव नीचगोत्री होते हैं। उनमें से जिन जीवों का पिण्ड परम्परा से शुद्ध वाले जीव नीचगोत्री होते हैं। कुछ जीव प्रलयकाल के समय छठे काल का अंत होने के पूर्व स्वयं विजयार्द्ध पर्वत की गुफाओं में पहुँच जायेंगे तथा कुछ जीवों को देव ले जायेंगे।

प्रलयकाल के अगले उत्सर्पिणीकाल के दुःषमा-दुःषमा काल के इक्कीस हजार वर्ष व दुःषमा काल के बीस हजार वर्ष बीत जाने पर कुलकरों की उत्पत्ति प्रारंभ होगी। यहाँ संकरता (वर्ण संकर, जातिसंकर, वीर्यसंकर) से उत्पन्न होने वाले नीच गोत्रियों की शृँखला का अभाव होगा।

काल की विशेषता–

उत्सर्पिणी काल के दुःषमा-सुषमा काल में तीर्थंकर होंगे। उनमें प्रथम तीर्थंकर की आयु व अवगाहना सबसे स्तोक (कम) होगी, उसके बाद 23 तीर्थंकरों की आयु व अवगाहना बढ़ती-बढ़ती होगी, यह भी काल का ही प्रभाव है कि अवसर्पिणीकाल में उत्पन्न हुए तीर्थंकरों की आयु व उत्सेध घटता हुआ और उत्सर्पिणीकाल में बढ़ता हुआ होता है।

वर्णसंकरादि का खुलासा–

1. वर्णसंकर—क्षत्रियवर्ण स्त्री और वैश्यवर्णी पुरुष से उत्पन्न सन्तान वर्णसंकर कहलाती है। एवमेव अन्य वर्ण में भी समझना।

2. जातिसंकर—वर्ण की अपेक्षा समानता होने की स्थिति में विभिन्न जातियों के स्त्री पुरुषों के समागम से होने वाली सन्तान, जैसे ओसवाल स्त्री

और माहेश्वरी पुरुष के संगम से उत्पन्न सन्तान जाति संकर कहलाती है।

3. वीर्यसंकर—सहोदर (एक भ्राता) की स्त्री के साथ दूसरे भ्राता के संगम से अथवा विधवा विवाह से उत्पन्न होने वाली सन्तान वीर्यसंकर कही जाती है।

संकरता से उत्पन्न हुए प्राणी भी परिणति की विशुद्धता से सम्यक्त्व की प्राप्ति कर पद के अनुकूल अपना आचरण बनाते हुए धर्मसाधन कर सकते हैं पर वे परमेश्वरी निर्ग्रंथ दीक्षा के अधिकारी नहीं हैं।

त्रिलोकसार गाथा 924 के पढ़ने से यह बात ध्यान में आती है कि जातिसंकरादि दोषों से रहित पिण्डशुद्धि वाले व्यक्ति ही दिगम्बर मुनि को आहारादि देने के अधिकारी हैं–

दुब्भाव-असुचि-सूदग-पुप्फवई-जाइ-संकरादीहिं।
कयदाणा वि कुवत्ते जीवा कुणरेसु जायन्ते।।

अर्थात् जो दुर्भावना, अपवित्रता, सूतक आदि से एवं पुष्पवती स्त्री के स्पर्श से युक्त तथा 'जातिसंकर' आदि दोषों से सहित होते हुए भी दान देते हैं और जो कुपात्रों को दान देते हैं वे जीव मरकर कुभोगभूमि (कुमनुष्यों) में जन्म लेते हैं अतः जातिसंकरादि दोषों से मुक्त व्यक्ति ही पात्रदान का अधिकारी माना गया है, वह सुस्पष्ट है।

जात्योऽनादयः सर्वास्तत्क्रियाऽपि तथाविधाः।
श्रुति शास्त्रान्तरेवास्तु प्रमाणं कात्र न क्षतिः।।

(उपासकाध्ययन अंग, पृ. 216, श्लोक 470)

अर्थ—सब जातियाँ अनादि हैं तथा उनकी क्रिया भी अनादि है। उसमें वेद तथा पुराण-शास्त्र प्रमाण हो, उससे हमारी कोई हानि नहीं है।

'सर्वार्थसिद्धि' में आर्य दो प्रकार के कहे हैं–1. ऋद्धिप्राप्त आर्य, 2. अनृद्धिप्राप्त आर्य।

अनृद्धिप्राप्त आर्य के 5 भेद हैं–

1. जो क्षेत्र आर्य हैं पर आर्य जाति में उत्पन्न नहीं हैं तथा कर्मआर्य, दर्शनआर्य व चारित्रआर्य भी नहीं हैं वे नीचगोत्री मिथ्यादृष्टि हैं।

2. जो क्षेत्र आर्य है पर आर्यजाति में उत्पन्न नहीं हुआ किन्तु कर्मआर्य व दर्शनआर्य है, वह नीचगोत्री सम्यग्दृष्टि है।

3. जो क्षेत्रआर्य हैं और आर्य-जातियों में उत्पन्न भी हुए हैं पर कर्मआर्य व दर्शनआर्य नहीं हैं, वे उच्चगोत्री मिथ्यादृष्टि हैं।

4. जो क्षेत्रआर्य, जातिआर्य, कर्मआर्य व दर्शनआर्य तो हैं पर चारित्र आर्य नहीं हैं, वे चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि उच्चगोत्री हैं।

5. जो क्षेत्र आर्य, जाति आर्य, कर्म आर्य, दर्शन आर्य व चारित्रआर्य हैं, वे उच्चगोत्री निर्वाण-पुरस्सर दीक्षा के अधिकारी हैं।

पूर्व समय में जिन जातियों में इसका चलन हुआ व वर्तमान में भी पाया जाता है वे भी ऐसे संबंधों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, उनके यहाँ पर ऐसी प्रवृत्ति धरेजा व नाता के नाम से प्रचलित है, वे अपनी कषायों की पूर्ति के लिए व परस्थिति-वशात् संबंध करते हैं। पर जिन जातियों में ऐसी प्रथा प्रचलित नहीं थी उनमें भी आजकल के सुधारक नामधारी इसे विधवा विवाह के नाम से प्रचारित करते हैं परन्तु वास्तव में यह विवाह नहीं है। विवाह तो कन्या का ही होता है।

आज हम देखते हैं कि ऐसी जातियाँ तो अपने सामाजिक बंधन को दृढ़ कर प्रचलित सामाजिक कुरीतियों को बंद करते हुए उत्थान की ओर अग्रसर हैं। यदि कोई व्यक्ति सामाजिक बंधन तोड़ता है, तो उनकी पंचायत बैठकर उसका हुक्का-पानी बंद कर देती है। पर हमारे यहाँ अब सामाजिक बंधन नाम की कोई चीज ही नहीं रही, उच्छृंखलता की प्रवृत्ति बढ़ गई है। कारण यह मालूम होता है कि समाज के श्रीमान् व धीमान् जिन पर समाज का उत्थान व पतन निर्भर रहता है वे ही इस प्रकार के बंधन में रहना नहीं चाहते। गार्डिनर ने ठीक कहा है – भारत का जाति-भेद मूल सत्य पर प्रतिष्ठित है किन्तु हम लोगों का जातिभेद धन पर प्रतिष्ठित है। (दी पिलर्स ऑफ सोसायटी)

आधुनिक तथाकथित सुधारकों का कहना है कि वर्णों की अधुनाप्रचलित व्यवस्था अनादिकालीन नहीं है अतः जो पूर्वकाल में नहीं थी उसकी आज भी क्या आवश्यकता है ? अर्थात् वे वर्ण व्यवस्था को निरर्थक घोषित करते हैं परन्तु ऐसी बात नहीं है, ज्ञान की हीनता के कारण इस पंचमकाल में हमें यह वर्ण व्यवस्था सादि प्रतीत होती है पर जब हम आगम पर दृष्टि डालते हैं तो यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध होती है कि तीसरे काल के अंत में होने वाले तीर्थंकर भगवान आदिनाथ ने अनादिकालीन वर्ण व्यवस्था को अपने अवधिज्ञानरूपी नेत्र से जानकर लोगों के सामने प्रकट किया था। अब यदि वर्ण व्यवस्था अनावश्यक घोषित की जाती है तो इसका अभिप्राय यही होगा कि आगम अथवा भगवान आदिनाथ भी अप्रामाणिक हैं ऐसा मानना तो शायद उन्हें भी स्वीकार्य नहीं।

कतिपय विचारकों की ऐसी भी धारणा है कि वर्ण तो अनादि हैं परन्तु जातियाँ अनादि नहीं सादि ही हैं। कदाचित् इस विचारधारा को भी सही मान लिया जाता परन्तु आचार्य नेमिचन्द्र ने 'त्रिलोकसार' ग्रंथ में 'जातिसंकर' का उल्लेख किया है, इससे सिद्ध होता है कि उनसे पूर्व भी जातियों का अस्तित्व था।

अब यदि तथाकथित सुधारकों की मान्यतानुसार जब पूर्वकाल में जातिव्यवस्था नहीं थी अतः आज भी नहीं होनी चाहिए, ऐसा मानें तो फिर कम से कम पूर्व (पहले, दूसरे, तीसरे) काल की सी व्यवस्था तो होनी चाहिए। तीसरे काल तक भोगभूमि होने के कारण माता के गर्भ से युगल संतान बालक-बालिका का युगपत जन्म होता था और वे ही पति-पत्नी हो जाते थे अतः वहाँ वर्ण, जाति की आवश्यकता ही नहीं थी। यदि कोई इस व्यवस्था को आज प्रचलित कर दे तो आज के समाज का बहुत बड़ा संकट (दहेज, अनमेल, विवाहादि) दूर हो सकता है परन्तु ऐसी व्यवस्था आधुनिक काल में बन नहीं सकती, न इसे प्रचलित करने का सामर्थ्य आज किसी में है। हाँ, ये तथाकथित सुधारवादी छठे काल दुःषम दुःषमा की परिस्थितियों को पंचमकाल में लाने हेतु नीच गोत्री पैदा करने-कराने की नाना युक्तियाँ अवश्य लगा रहे हैं, सो कथमपि ग्राह्य नहीं हो सकती।

आगम के आलोक में लिखे हुए इन तथ्यों को पढ़कर समाज विवेकपूर्वक अपने धर्म, समाज व कुल की रक्षा करते हुए आगमानुसार प्रवृत्ति करे, यही भाव है।

सज्जाति

– गणिनी आर्यिका ज्ञानमती

सज्जातिः सद्गृहित्वं च, पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं, परनिर्वाणमित्यपि।।67।।[1]

(1) सज्जाति, (2) सद्गृहस्थ श्रावक के व्रत, (3) पारिव्राज्य मुनियों के व्रत, (4) सुरेन्द्रपद, (5) साम्राज्य चक्रवर्ती पद, (6) अरहन्तपद और (7) निर्वाणपद ये सात परम स्थान कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव क्रम-क्रम से इन परम स्थानों को प्राप्त कर लेता है।

इन्हें कर्त्रन्वय क्रिया भी कहते हैं। इन सप्त परम स्थानों का कर्त्रन्वय क्रियाओं के नाम से आदिपुराण में सुन्दर विवेचन देखा जाता है।

(1) सज्जाति – इन क्रियाओं में कल्याण करने वाली सबसे पहली क्रिया सज्जाति है जो निकट भव्य को मनुष्य-जन्म की प्राप्ति होने पर होती है। दीक्षा धारण करने योग्य उत्तम वंश में विशुद्ध जन्म धारण करने वाले मनुष्य के सज्जाति नाम का परम स्थान होता है। विशुद्ध कुल और विशुद्ध जाति रूपी सम्पदा सज्जाति है। इस सज्जाति से ही पुण्यवान मनुष्य उत्तरोत्तर उत्तम-उत्तम वंशों को प्राप्त होता है। पिता के वंश की जो शुद्धि है उसे कुल कहते हैं और माता के वंश की शुद्धि जाति कहलाती है। कुल और जाति इन दोनों की विशुद्धि को सज्जाति कहते हैं, इस सज्जाति के प्राप्त होने पर बिना प्रयत्न के सहज ही प्राप्त हुए गुणों से रत्नत्रय की प्राप्ति सुलभ हो जाती है[2]।

आर्यखण्ड की विशेषता से सज्जातित्व की प्राप्ति, शरीरादि योग्य सामग्री मिलने पर प्राणियों के अनेक प्रकार के कल्याण उत्पन्न करती है। यह सज्जाति उत्तम शरीर के जन्म से ही वर्णित की गई है क्योंकि पुरुष के समस्त इष्ट पदार्थों की सिद्धि का मूल कारण यही एक सज्जाति है।

संस्कार रूप जन्म से जो सज्जाति का वर्णन है वह दूसरी सज्जाति है उसे

1. आदिपुराण, पर्व 38, श्लोक 67।
2. स नृजन्मपरिप्राप्तौ दीक्षायोग्ये सदन्वये। विशुद्धं लभते जन्म सैषा सज्जातिरिष्यते॥83।।
पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुलं परिभाष्यते। मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलप्यते॥85।।
विशुद्धिरुभयस्यास्य सज्जातिरनुवर्णिता। यत्प्राप्तौ सुलभा बोधिरयत्नोपनतैर्गुणै॥86।।
(आदिपुराण पर्व 39)

पाकर भव्यजीव द्विजन्मा कहलाता है अर्थात् प्रथम उत्तम वंश में जन्म यह एक सज्जाति हुई पुनः व्रतों के संस्कार से संस्कारित होना यह द्वितीय जन्म माना जाने से उस भव्य की द्विज यह संज्ञा अन्वर्थ हो जाती है। जिस प्रकार विशुद्ध खान में उत्पन्न हुआ रत्न, संस्कार के योग से उत्कर्ष को प्राप्त होता है, उसी प्रकार क्रियाओं और मंत्रों से सुसंस्कार को प्राप्त हुआ आत्मा भी अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है।

यहाँ विशेष बात समझने की यह है कि जाति व्यवस्था को माने बिना सज्जातित्व नहीं बन सकता। इसी बात को श्री गुणभद्राचार्य कहते हैं। जिनमें शुक्लध्यान के लिए कारण ऐसे जाति गोत्र आदि कर्म पाये जाते हैं, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ऐसे तीन वर्ण हैं। उनसे अतिरिक्त शेष शूद्र कहे जाते हैं। विदेहक्षेत्रमें मोक्ष जाने के योग्य जाति का कभी विच्छेद नहीं होता है, क्योंकि वहाँ उस जति में कारणभूत नाम और गोत्र सहित जीवों की निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है परन्तु भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र में चतुर्थकाल में ही जाति की परम्परा चलती है अन्य कालों में नहीं। जिनागम में मनुष्यों का वर्ण-विभाग इस प्रकार बतलाया गया है।

कृतयुग की आदि में जब प्रजा भगवान के सामने अपनी आजीविका की समस्या लेकर आई, तब भगवान ने उसे आश्वासन देकर विचार किया।

पूर्व और पश्चिमविदेह क्षेत्र में जो स्थिति वर्तमान में है वही स्थिति आज यहाँ प्रवृत्त करने योग्य है, उसी से यह प्रजा जीवित रह सकती है। वहाँ जैसे असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छह क्रियाओं की तथा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की स्थिति है और जैसी ग्राम, घर, नगर आदि की रचना है वह सब यहाँ पर भी होनी चाहिए। अनन्तर भगवान के स्मरण मात्र से देवों के साथ सौधर्म इन्द्र वहाँ आया और उसने शुभ मुहूर्त में जगद्गुरु भगवान की आज्ञानुसार मांगलिक कार्यपूर्वक अयोध्या के बीच में जिनमंदिर की रचना की। पुनः सर्व ग्राम, नगर आदि की रचना कर प्रजा को बसाकर चला गया[2]।

1. जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः। येषु ते स्युश्त्रयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः।।496।।
अच्छेद्यो मुक्तियोग्याया विदेहे जाति संततेः। तद्धेतुनामगोत्राढ्यजीवा विच्छिन्नसन्ततात्।।494।।
शेषायोस्तु चतुर्थे स्यात्काले तज्जातिसंततिः। एवं वर्णविभागः स्यान्मनुष्येषुनागमे।।495।।
(उत्तरपुराण, पर्व 74)
2. पूर्वापरविदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता। साद्य प्रवर्तनीयात्र ततो जीवन्त्यमूः प्रजाः।।143।।
षट्कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः। यथा ग्रामगृहादीना संस्त्यायाश्च पृथग्विधाः।।144।।
(आदिपुराण पर्व 16)

पुनः भगवान ने असि, मसि आदि षट्कर्मों का उपेदश देकर क्षत्रिय, वैश्य शूद्र इन तीन वर्णों की स्थापना की।

उस समय प्रजा अपने वर्ण की निश्चित आजीविका को छोड़कर अन्य आजीविका नहीं करती थी इसीलिए उनके कार्यों में कभी संकर मिलावट नहीं होती थी। उनके विवाह, जाति संबंध तथा व्यवहार आदि सभी कार्य भगवान की आज्ञानुसार ही होते थे[1]।

अर्थात् इस कर्मभूमि की आदि में भगवान वृषभदेव ने अपने अवधिज्ञान के बल से विदेह क्षेत्र की अनादिनिधन कर्मभूमि की व्यवस्था को देखकर ही उसी के सदृश यहाँ सब व्यवस्था बनाई थी। अतः जैसे इस भरतक्षेत्र में मोक्षमार्ग की व्यवस्था सादि है, भोगभूमि में या प्रथम, द्वितीय, तृतीय पंचम तथा छठे काल में मोक्ष नहीं होता है, वैसे ही यह वर्ण व्यवस्था भी सादि है फिर भी इसके बिना मोक्ष नहीं है।

स्वयं कुन्दकुन्द भी कहते हैं–

देश, कुल, जाति से शुद्ध, विशुद्ध मन, वचन, काय से संयुक्त ऐसे हे गुरुदेव! तुम्हारे चरणकमल हमारे लिए हमेशा मंगलमयी होवें[2]।

जाति व्यवस्था को स्वीकार करने पर ही जाति से शुद्ध यह विशेषण सार्थक होता है।

सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य भी कहते हैं–

दुर्भाव, अशुद्धि, सूतक-पातक दोष से युक्त, रजस्वला स्त्री और जातिसंकर आदि दोष से दूषित लोग यदि दान देते हैं तो वे कुभोगभूमि में जन्म लेते हैं तथा जो कुपात्र में दान देते हैं वे भी कुभोग भूमि में जन्म लेते हैं[3]।

जाति व्यवस्था मानने पर ही जातिसंकर दोष बनेगा अन्यथा नहीं। उपासकाध्ययन में भी कहा है–

जैसे माता-पिता के शुद्ध होने पर सन्तान की शुद्धि देखी जाती है, वैसे ही आप्त के निर्दोष होने पर उनका कहा हुआ आगम निर्दोष माना जाता है[4]।

1. आदिपुराण पर्व 16, पृ 362, 363
2. देसकुलजाइसुद्धा विसुद्धमणवयणकायसंजुत्ता। तुम्हं पायपयोरुहमिह मंगलमत्थु मेणिच्चं।। (श्री कुन्दकुन्दकृत आचार्य भक्ति)
3. दुभावअसुयसूदगपुप्फवईजाइसंकरादीहिं। कयदाणा वि कुवत्ते जीवा कुणरेसु जायंते।।914।। (त्रिलोकसार)
4. पित्रोः शुद्धौ यथापत्ये विशुद्धिरिह दृश्यते। तथाप्तस्य विशुद्धत्वे भवेदागमशुद्धता।।96।। (उपासकाध्ययन, पृ. 26)

द्रव्य दाता और पात्र की विशुद्धि होने पर ही विधि शुद्ध हो सकती है क्योंकि सैकड़ों संस्कारों से भी शूद्र, ब्राह्मण नहीं हो सकता है।[1]

उत्तरपुराण में एक कथा आती है कि जब सत्यभामा ब्राह्मणी को यह मालूम हुआ कि यह मेरा पति कपिल, ब्राह्मण न होकर दासी पुत्र है तो वह ब्रह्मचर्य व्रत लेकर राजा की शरण में गई। राजा ने भी सोचा कि पापी और विजातीय मनुष्यों को संसार में न करने योग्य कुछ भी कार्य नहीं है। इसीलिए राजा लोग ऐसे कुलीन मनुष्यों का ही संग्रह करते हैं[2]। ऐसा विचार करते हुए राजा ने उस मायावी कपिल को दण्डित किया।

ऐसे ही गुणभद्रसूरि ने बताया है कि एक समय एक मुनि वेश्या के दरवाजे की तरफ से निकले, तब वेश्या ने विनय से निवेदन किया, हे मुने! मेरा कुल दान देने योग्य नहीं है। इस तरह अपने कुल की निंदा करती हुई वह पूछती है– भगवन्! उत्तम कुल और रूपादि इस जीव को किन कार्यों से मिलते हैं ? तब मुनि ने कहा– हे भद्रे! मद्य, मांस आदि के त्याग करने से उतम कुल आदि की प्राप्ति होती है[3]।

इसीलिए सोमदेवसूरि कहते हैं–

मनुष्यों की क्रियाएं शुद्ध होने पर भी यदि उनके आप्त और आगम निर्दोष नहीं है तो उत्तम फल की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जैसे कि क्रियाएँ शुद्ध होने पर भी विजातीय लोगों से कुलीन सन्तानरूप उत्तम फल की प्राप्ति नहीं हो सकती[4]।

अतः आचार्य आदेश देते हैं कि–

धर्मभूमि में स्वभाव से ही मनुष्य कम कामी होते हैं। अतः अपनी जाति की

1. सद्द्रव्यदातृपात्राणां विशुद्धौ विधिशुद्धता। यत्संस्कारशतेनापि नाजातिर्द्विजतांव्रजेत्।।308।। (उपासकाध्ययन, पृ. 139)
2. पापिष्ठानां विजातीनां नाकार्यं नाम किंचन। एतदर्थं कुलीनानां नृपाः कुर्वंति संग्रहम्। (उत्तरपुराण, पृ. 161)
3. दानयोग्यकुला नाहमस्मीत्यात्मानमुच्छुचा। निंदन्ती वाढमप्राक्षीत् मुने कथय जन्मनाम्।।260।। कुलरूपादयः केन जायंते संस्तुता इति। मद्यमांसादिकत्यागादित्युदीर्य मुनिश्च सा।।261।। (उत्तरपुराण, पर्व 59)
4. आप्तागमाविशुद्धत्वे क्रिया शुद्धापि देहिषु। नाभिजातफलप्राप्त्यै विजातिष्विव जायते।।178।। (उपासकाध्ययन, पृ. 61)

विवाहित स्त्री से ही संबंध करना चाहिए। अन्य कुजातियों की स्त्रियों से, बंधु-बांधवों की तथा व्रती स्त्रियों से भी संबंध नहीं करना चाहिए[1]।

यही कारण है कि जीवंधर कुमार ने गायों को जीतने के बाद ग्वाल सरदार की कन्या गोविन्दा को स्वयं न वरण कर अपने मित्र पद्मास्य को ही उसके योग्य समझा और उसके साथ विवाह कराया[2]।

श्री रविषेणाचार्य कहते हैं–

1. कुल, 2. शील, 3. धन, 4. रूप, 5. समानता, 6. बल, 7. अवस्था, 8. देश, 9. विद्यागम ये नौ गुण वर के कहे गये हैं। तथापि उत्तम पुरुष इन सभी गुणों में एक कुल को ही श्रेष्ठ गुण मानते हैं परन्तु वही कुल गुण जिस वर में न हो, भला उसे कन्या कैसे दी जा सकती है[3]?

यही कारण है कि जब सुग्रीव की भार्या सुतारा के महल में साहसगति विद्याधर कृत्रिम सुग्रीव का रूप बनाकर घुस आया और सच्चे (असली) सुग्रीव के आ जाने के बाद जब मंत्री लोग सत्य और मायावी का निर्णय नहीं कर सके, तब उन लोगों ने विचार किया कि–

लोक में गोत्रशुद्धि अत्यन्त दुर्लभ है इसीलिए उसके बिना बहुत भारी राज्य से भी प्रयोजन नहीं है। निर्मल गोत्र पाकर ही शीलादि आभूषणों से भूषित हुआ जाता है। इसलिए इस निर्मल अंतःपुर की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए[4]।

इसीलिए तो भारतीय संस्कृति में विधवा विवाह का सर्वथा निषेध है। जब चन्द्रनखा को खरदूषण ने हरण कर लिया तब रावण के कुपित होने पर मन्दोदरी कहती है–

यदि किसी तरह वह खरदूषण मारा भी गया तो हरण के दोष से दूषित

1. धर्मभूमौ स्वभावेन मनुष्यो नियतस्मरः। यज्जात्यैव पराजातिबंधुलिंगिस्त्रिस्त्येज्।।406।। (उपासका.)
2. गद्यचिंतामणि।
3. कुल शीलं धनं रूपं समानत्व बलं वयः। देशो विद्यागमश्चेति यद्युप्युक्ता वरे गुणाः।।14।। तथापि तेषु सर्वेषु संतोऽभिजनेककम्। वरिष्ठमनुसंध्यन्ते शेषेषु तु मनः समम्।।15।। स च न ज्ञायते यस्य वरस्य प्रथमो गुणः। कथं प्रदीयते तस्मै कन्या मान्या समंततः॥16।। (पद्मपुराण पर्व 101)
4. अत्यन्तदुर्लभा लोके गोत्रशुद्धिस्तया विना। नितान्तपरमेणापि न राज्येन प्रयोजनम्।।64।। संप्राप्य निर्मलं गोत्रं भव्यं शीलादिभूषितैः। तस्मादन्तःपुरे यत्नादिदं रक्ष्यं सुनिर्मलम्।।65।। (पद्मपुराण पर्व 47)

कन्या अन्य दूसरे को नहीं दी जा सकेगी, उसे तो मात्र विधवा ही रहना पड़ेगा[1]।

जब सुलोचना ने स्वयंवर में जयकुमार के गले में वरमाला डाल दी, तब भरत सम्राट के पुत्र अर्ककीर्ति कुछ लोगों के भड़काने से युद्ध के लिए तैयार हो गये। उसी बीच अर्ककीर्ति कहते हैं–

मैं सुलोचना को भी नहीं चाहता हूँ क्योंकि सबसे ईर्ष्या करने वाला यह जयकुमार अभी मेरे बाणों से ही मर जावेगा ? तब उस विधवा से मुझे क्या प्रयोजन रह जावेगा[2]।

इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनकाल में कुल की शुद्धि देखकर सजाति में ही विवाह किये जाते थे। विधवा विवाह, पुनर्विवाह आदि प्रथाएं निषिद्ध थीं। सजातीय भार्या को ही धर्मपत्नी की संज्ञा दी जाती है। राजाओं के जो अन्य विजातीय स्त्रियाँ भी रहती थीं वे केवल भोगपत्नी मानी जाती थीं। क्योंकि 'सज्जाति' से उत्पन्न सन्तान ही दान, पूजन करने के लिए अधिकारी है और 'सज्जाति' को ही दिगम्बरी दीक्षा का विधान है। आचार ग्रंथों में तो ऐसा कथन है ही, श्री पूज्यपाद आचार्य विरचित 'जैनेन्द्र व्याकरण' का भी सूत्र है[3]–

जो वर्ण से अर्हत् रूप के योग्य नहीं है इत्यादि इससे स्पष्ट है कि तीन वर्ण ही दीक्षा के योग्य हैं और अन्तिम वर्ण दीक्षा के अयोग्य है।

जिस प्रकार गुलाब के पौधे की टहनी (कलम) काटकर लगाते हैं तो श्वेत, लाल या गुलाबी जैसे भी गुलाब की टहनी है वैसा ही फूल आता है परन्तु यदि सफेद गुलाब की कलम और लाल गुलाब की कलम दोनों को मिलाकर लगा देते हैं, तो उसमें श्वेत या लाल (गुलाब) फूल न आकर एक तीसरे ही रंग का फूल आ जाता है तथा श्वेत या लाल गुलाब जैसी असली सुगंध भी उसमें नहीं रहती है। कालान्तर में उस संकर (मिश्रित) गुलाब की कलम भी नहीं लगाई जा सकती है चूँकि उसकी उपजाऊ शक्ति समाप्त हो जाती है।

वैसे ही 'जातिसंकर' से दूषित कुल में मोक्षमार्ग परम्परा नहीं चलती क्योंकि वि

1. कथंचिच्च हतेप्यस्मिन् कन्याहरणदूषिता। अन्यस्मै नैव मिश्राण्या केवलं विधवैवेत्।।36।। (पद्मपुराण, पर्व 9)
2. नाहं सुलोचनार्थ्यस्मि मत्सरी मच्छरैरयं। परासुरधुनैव स्यात् किं मे विधवया त्वया।।65।। (आदिपुराण, पर्व 44, पृ. 391)
3. 'वर्णेनार्हद्रूपायोग्यानां।

'सज्जाति' परम स्थान के बिना पारिव्राज्य परम स्थान और मोक्ष मिलना असंभव है।

कुछ लोगों का कहना है कि छठे काल में 'सज्जातित्व' समाप्त हो जावेगा, क्योंकि तब विवाह प्रथा रहेगी ही नहीं। पुनः आगे छठे और पंचम काल के बाद चतुर्थ काल के अन्त में कुलकर जन्म लेंगे एवं उन्हीं में तीर्थंकरों का भी जन्म होगा। तो बिना 'सज्जाति' के भी मोक्षमार्ग चलेगा ही।'

इस पर चारित्र चक्रवर्ती आचार्यवर्य श्री शांतिसागर जी महाराज ने बहुत ही सुन्दर समाधान दिया था। उन्होंने कहा था कि–

छठे काल के अन्त में प्रलय के समय जो बहत्तर जोड़े, देवों द्वारा यहाँ से ले जाये जाकर विजयार्ध की गुफाओं में सुरक्षित किए जावेंगे, 'तिलोयपण्णत्ति' में ऐसा कथन है कि उस समय कुछ और भी मनुष्य सुरक्षित रखे जावेंगे। उन्हीं में से जिनमें 'सज्जाति (बिना विवाह के भी एक स्त्री से संबंध होने की परम्परा) सुरक्षित रह जावेगी उन्हीं में कुलकर' तीर्थंकर आदि जन्म लेवेंगे। उदाहरण के लिए देखिए–

यदि कोई एक बोरी गेहूँ घुने हुए लाकर किसी चतुर महिला को दे देवे और कहे कि इन सर्वथा घुने हुए गेहूँ में से तुम 2-4-10 गेहूँ बिना घुने हुए निकाल दो, तो आप ही बतलाइये 10-12 गेहूँ बिना घुने हुए उस बोरी भर गेहूँ में से ढूंढने पर मिलेंगे या नहीं ? यदि मिल सकते हैं तो पुनः उन्हीं बिना घुने गेहूँ को बोने से परम्परागत अपरिमित गेहूँ हो जाते हैं फिर वैसे ही कई करोड़ों मनुष्यों की संख्या में से 10-20 स्त्री-पुरुष (दंपति) शुद्ध 'सज्जाति' वाले तब भी सुरक्षित रह सकते हैं और उनमें से ही किन्हीं को कुलकर तथा तीर्थंकर जैसे महापुरुषों को जन्म देने का सौभाग्य मिल सकता है, ऐसा विश्वास करना चाहिए।

वर्ण एवं जाति-व्यवस्था के संबंध में आगमिक व्यवस्था और आधुनिक ऊहापोह

-आर्यिका श्री विशुद्धमती माताजी

चैतन्य एवं ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला आत्मद्रव्य अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। इस परिभ्रमण के कारण हैं स्वयं उसके द्वारा उपार्जित उसके कर्म। मूलतः कर्मप्रकृतियाँ आठ हैं, जिनके उत्तर भेद 148 और अवान्तर भेद असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। इन आठ कर्मों में गोत्र नाम का भी एक कर्म है जो अनादिकाल से जीव के साथ लगा हुआ है और चौदहवें गुणस्थानक के अन्त तक साथ रहता है।

गोत्र कर्म-लक्षण–

1. गमयत्युच्चनीचकुलमिति गोत्रम्। उच्चनीचकुलेसु उप्पादओ पोग्गलक्खेंधो मिच्छत्तादिपच्चएहिजीव संबद्धो गोदमिदि उच्चदे।

-धवला पु. 6, पृ. 77

जो जीव को उच्च और नीच कुलों में ले जाता है वह गोत्र कर्म है। मिथ्यात्व आदि बंध कारणों के द्वारा जीव के साथ संबंध को प्राप्त एवं उच्च और नीच कुलों में उत्पन्न कराने वाला पुद्गल स्कंध 'गोत्र' नाम से कहा जाता है।

2. गोत्रं कुलं वंशः सन्तानमित्येकोऽर्थः। -धवल पु. 6, पृ.77

गोत्र, कुल, वंश और संतान ये सब एकार्थक नाम है।

उपर्युक्त लक्षणों से यह सिद्ध होता है कि गोत्र कर्म के उदय से ही जीवों का ऊँच-नीच कुलों में जन्म होता है अथवा उनमें ऊँच व नीच संस्कारों की प्रतीति होती है और इसी कारण वर्णों की व्यवस्था है।

गोत्र कर्म : भेद

गोदस्स कमस्स दुवे पयडीओ।

उच्च गोदं चेव णिच्चागोदं चेव।। -धवला पु. 6, पृ. 77

अवान्तर भेदेण जदि वि बहुआवो अस्थि तो वि ताओ ण उत्ताओ गंथ-बहुत्त-भएण अथ्थवत्तीए तदवगमादो। -धवला पु. 12, पृ. 484

गोत्र कर्म की दो प्रकृतियाँ हैं। उच्च गोत्र और नीच गोत्र अवान्तर भेद भी बहुत हैं किन्तु ग्रंथ बढ़ जाने के भय से अथवा अर्थापत्ति से उनका ज्ञान हो जाने के कारण उनको यहाँ नहीं कहा जा रहा है।

उच्चुच्च उच्च तह उच्चणीय णीचुच्च णीचं च।
जस्सोदयेण भावो णीचुच्च-विवज्जिदो तस्स।।

धवला पुस्तक 7, पृ. 15 पर उद्धृत

जिस गोत्र कर्म के उदय से जीव उच्च-उच्च, उच्च, उच्च-नीच, नीच-उच्च, नीच और नीच-नीच भाव को प्राप्त होता है।

इस प्रकार गोत्रकर्म के ये उपर्युक्त छह भेद हैं।

उच्च और नीच गोत्र के लक्षण–

जस्य कम्मस्स उदएण उच्चागोदं होदि तमुच्चागोदं गोत्रं कुलं वंशः सन्तानमित्येकोऽर्थः। जस्स कम्मस्स उदयेण जीवाणं णीचगोदं होदि तं णीचगोत्तं नाम।

गोत्र, कुल, वंश, सन्तान ये सब एकार्थक नाम हैं। जिस कर्म के उदय से जीवों के उच्च गोत्र, कुल या वंश होता है वह उच्च गोत्र कर्म है और जिस कर्म के उदय से जीवों के नीच गोत्र, कुल या वंश होता है नीच गोत्र कर्म है।

यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम्।
यद्रुदयाद् गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम्।

-सर्वार्थसिद्धि अ. 8, सूत्र 12, पृ. 394।

लोकपूजितेषु कुलेषु प्रथितमाहात्म्येषु इक्ष्वाकूग्रकुरुहरिज्ञाति-प्रभृतिषु जन्म यस्योदयाद् भवति तदुच्चैर्गोत्रमवसेयम्। गर्हितुषु दरिद्राप्रतिज्ञातदुःखाकुलेषु कृतं प्राणिनां जन्म तन्नीचैर्गोत्रम् प्रत्येव्यम्। ता. रा. वा. अ. 8, सूत्र 12, पृ. 580।

जिस कर्म के उदय से महत्त्वशाली उत्तम कुलों में जन्म हो, वह उच्च गोत्रकर्म है और जिसके उदय से गर्हित, निंद्य, दरिद्र, अप्रसद्धि और दुःखाकुल कुलों में जन्म हो वह नीच गोत्र कर्म है।

गोत्र कर्म और उसके भेद-प्रभेदों की उपर्युक्त लक्षणावली उच्च-नीच कुलों का अस्तित्व और गोत्रकर्म के साथ कुलों एवं अंशों का अविनाभाव संबंध स्वतः सिद्ध करती है।

गोत्र कर्म का व्यापार एवं उसका फल बताते हुए क्रमशः आचार्य वीरसेन और शुभचन्द्र कहते हैं कि–

तस्स गोदस्स णीचुच्च-कुल-समुप्पायणिम्मि वावारावो।-क्षुल्लबंध स्वामित्व सूत्र 15, धवला

उस गोत्रकर्म का नीच और उच्च कुल में उत्पन्न कराने का व्यापार होता है।

गोत्राख्यं जन्तु जातस्य कर्म-दत्ते स्वकं फलम्।
शस्ताशस्तेषु गोत्रेषु जन्म निष्पाद्य सर्वथा।।34-24।। (ज्ञानार्णव)

गोत्र के जीवों को प्रशस्त और अप्रशस्त गोत्रों में उत्पन्न कराकर सर्वप्रकार से अपना फल देता है।

उपर्युक्त प्रमाण स्पष्टतः घोषित करते हैं कि गोत्रकर्म अनादि है। इस तथ्य को स्वीकार कर लेने पर स्वतः ही कुल और जाति की व्यवस्था अनादिकालीन सिद्ध होती है। यदि ऐसी व्यवस्था नहीं मानेंगे तो उच्च-नीच कर्म के बंधक कारणों का अभाव मानना पड़ेगा और तब कारण का अभाव होने से गोत्र कर्मरूप कार्य का भी अभाव मानना पड़ेगा, सो कदापि संभव नहीं है।

नीच गोत्र बंध के कारण–

कुलरूवाणाबल-सुद.....णीचागोदं कुणदि कम्मं।1375।-भगवती आराधना

कुल, रूप, आज्ञा, बल श्रुतज्ञान..... आदि से अपने को ऊँचा मानने वाला मनुष्य नीच गोत्र का बंध करता है।

जातिकुलबलरूप श्रुताज्ञैश्वर्य.....तीर्थेकराधिक्षेपादिः। - त.रा.वा. अध्याय 6, सूत्र 25, पृ. 531।

जाति, कुल, बल, रूप, श्रुत, आज्ञा, ऐश्वर्य और तप का मद करना, तीर्थंकरों पर आपेक्ष करना आदि नीचगोत्र के आस्रव के कारण हैं और जाति, कुल, बल, रूप आदि का मद नहीं करना उच्चगोत्र के आस्रव के कारण हैं।

सम्यग्दर्शन एवं उसके क्षय, क्षयोपशमादि भेद अनादि परम्परा से चले आ रहे हैं अतः क्षयोपशम सम्यक्त्व में लगने वाले पच्चीस दोष भी अनादि है। इन पच्चीस दोषों में आठ मद भी गिनाये गये हैं जिनमें कुल एवं जाति का मद भी सम्यक्त्व का मल है। यथा–

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं, बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं, स्मयय्माहुर्गतस्मयाः।।25।।

(रत्नकरण्डश्रावकाचार)

यदि कुल (पिता का वंश) और जाति (माता का वंश) आदि की व्यवस्थाएँ अनादिकालीन न होती तो आठ मदों में इनकी गिनती कैसे हो सकती थी ?

कुल और जाति–

गोत्र कर्म के फलस्वरूप जो कुल एवं जाति (व्यवस्था) उल्लिखित हुई

उसका संबंध माता-पिता के रज और वीर्य से है। 'आदिपुराण' में सप्तपरम स्थानों का वर्णन है, इनमें प्रथम स्थान सज्जाति है। सज्जातित्व की सिद्धि विशुद्ध कुल और विशुद्ध जाति के आश्रय से होती है-

पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुलं परिभाष्यते।
मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलप्यते।।85।।
विशुद्धि/भयस्यास्य, सज्जातिरनुवर्णिता।
यत्प्राप्तौ सुलभा बोधिरयत्नोपनतैः गुणैः।।86।। (पर्व 39)

इससे भिन्न यदि माता-पिता में से किसी एक की भी अन्वयशुद्धि नहीं है तो वह सन्तति जाति संकर कहलाती है। सिद्धान्त चक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य 'त्रिलोकसार' में कहते हैं कि–

संस्कृत छाया–

दुर्भावाशुचि-सूतक-पुष्पवती-जाति-संकरादिभिः।
कृतदाना अपि कुपात्रेषु जीवाः कुनरेषु जायन्ते।।924।।

जो दुर्भावना, अपवित्रता, सूतक, पुष्पवती स्त्री के स्पर्श तथा जाति संकर आदि दोषों से युक्त होते हुए भी दान देते हैं और जो कुपात्रों को दान देते हैं वे जीव मरकर कुमनुष्यों में उत्पन्न होते हैं।

जातिसंकर दोष से युक्त आहारदान करने का अधिकारी नहीं है, ऐसी आर्ष आज्ञा है। इस आज्ञा की अवमानना करने वाला 96 अन्तर्द्वीपों में कुमानुषों में उत्पन्न होता है।

वर्ण–

बीज और वृक्ष की भांति वर्ण-परम्परा भी अनादिकालीन है। भरतैरावत आर्यखण्डों में देश और काल के आश्रय से इनका अविर्भाव एवं तिरोभाव होता रहता है। विदेहक्षेत्रों में यह व्यवस्था अनादि से अक्षुण्य है।

इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे में उत्पन्न होने वाले ऋषभदेव तीन ज्ञान के धारी थे। उन्होंने अपने अवधि नेत्र से विदेह की व्यवस्था और वहाँ के मनुष्यों की बाह्याभ्यन्तर वृत्ति देखकर तीनों वर्णों को यहाँ प्रगट किया था। "तीर्थकृद्भिः इयं सृष्टा धर्म-सृष्टिं प्रभावयेत्" तीर्थंकर के द्वारा रची गई यह धर्मसृष्टि ही सनातन है-इस श्रद्धा को धारण करने वाली सम्पूर्ण प्रजा यथा-योग्य अपने-अपने कर्म को सांकार्य के बिना करने लगी। विवाह, जाति संबंध और सम्पूर्ण व्यवहार व्यवस्थित चलने लगे–

यथास्वं स्वोचितं कर्म प्रजा दधुरसंकरम्।
विवाहजातिसंबंधव्यवहारश्च तन्मतम्।। (16-187 आ. पु.)

राजा आदिनाथ की दीक्षा के बाद चक्रवर्ती भरत ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की। क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में मात्र प्रथम तीन वर्ण ही दीक्षा एवं आहारदान योग्य हैं, शूद्र नहीं क्योंकि शूद्रों की पिण्ड शुद्धि नहीं है और उनका आचार-विचार भी उपयुक्त नहीं है।

पिण्डशुद्धेरभावत्वान्मद्यमांसनिषेवनात्।
सेवादिनीचवृत्तित्वात् शूद्राणां संस्कारो न हि।।

शूद्रों की पिण्डशुद्धि नहीं देखी जाती, वे माद्य-मांस का सेवन करते हैं और सेवादि नीच वृत्ति से अपनी आजीविका करते हैं अतः उनका संस्कार नहीं होता।

पौनर्पुनर्विवाहत्वात् पिण्डशुद्धेरभावतः।
ऋत्वादिषु क्रियाभावात् तेषु न मोक्षमार्गता।।

शूद्रों में बार-बार विवाह होता है, उनकी पिण्डशुद्धि नहीं होती तथा उनमें ऋतुधर्म आदि के समय क्रिया का अभाव है, अतः उनमें मोक्षमार्गता नहीं बनती।

संस्कृते देह एवासौ दीक्षाविधिरभिस्मृतः।
शौचाचारविधिप्राप्तौ, देहः संस्कर्तुमर्हति।।

संस्कार सम्पन्न देह में ही यह दीक्षाविधि कही गई है तथा शौचाचार विधि को प्राप्त हुआ देह ही संस्कार के योग्य हैं।

विशिष्टान्वयजो शुद्धो जातिकुलशुद्धि भाक्।
न्यसतेऽसौ सुसंस्कारैस्तु कि परमं तपः।।

जो विशिष्ट अन्वय में उत्पन्न हुआ है, शुद्ध है तथा जाति और कुल के आश्रय से विशुद्धियुक्त है, वहीं संस्कारों का अधिकारी है और उसी से परम तप होता है।

शूद्र को छोड़कर शेष तीन वर्णों में भी जिन मनुष्यों की जाति और कुल शुद्ध है वे ही दीक्षा के अधिकारी हैं।

वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुच्छारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो।।3-25।।

-उद्धृत प्रवचनसार-जयसेन की टीका

जो नीरोग हैं, उम्र से तप को सहन करने में समर्थ हैं, सौम्यमुख हैं और दुराचार आदि लोकापवाद से रहित हैं, तीन वर्णों में से किसी भी वर्ण का ऐसा मनुष्य जिनदीक्षा ग्रहण करने के योग्य है।

विशुद्धकुलगोत्रस्य, सद्वृत्तस्य वपुष्मतः।
दीक्षा योग्यत्वमाम्नातं, सुमुखस्य सुमेधसः।।39-158 (म.पु.)

जिसका कुल और गोत्र विशुद्ध है, चारित्र उत्तम है, मुख सुन्दर है और बुद्धि सन्मार्ग की ओर है, ऐसा पुरुष ही दीक्षा ग्रहण करने योग्य माना गया है।

आचार्य परमेष्ठी का लक्षण इस प्रकार है–

देस-कुल-जाइ-सुद्धो सोमंगो संगभंग उन्मुक्को।
गयणव्व णिरुवलेवो आइरिया एरिसो होइ।।

(उद्धृत, ध.पु. 1, पृ. 49)

जो देश, कुल और जाति से शुद्ध है, सौम्य मूर्ति है, अंतरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित है और आकाश के समान निर्लेप है, सो आचार्य परमेष्ठी होता है।

देस-कुल-जाइ-सुद्धा-विशुद्ध मणवयणकाय संजुत्ता।
तुम्हं पायपयोरुहमिह मंगलमत्थु मे णिच्चं।।1।। (प्रा.आ. भक्ति)

जो देश, कुल एवं जाति से शुद्ध है तथा मन-वचन-काय की शुद्धि से संयुक्त हैं, वे आचार्य कुल और जाति से शुद्ध तीन वर्ण वालों को ही दीक्षा देते हैं। यदि स्वयं आचार्य की कुलशुद्धि नहीं होगी तो वह दीक्षार्थी एवं दाताश्रावक की कुल, जाति को भी नहीं देखेगा और मोक्षमार्ग को दूषित करेगा।

'प्रायश्चित चूलिका' ग्रंथ में तो यहाँ तक कहा गया है कि जो आचार्य जानते हुए भी नीच कुल वाले को दीक्षा देते हैं, उस आचार्य का ही त्याग कर देना चाहिए–

ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः, योग्याः सर्वज्ञदीक्षणे।
कुलहीने न दीक्षास्ति, जिनेन्द्रोदिष्टशासने।।106।।

सर्वज्ञ पद के योग्य दीक्षा में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण ही योग्य माने गये हैं। जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट शासन में कुलहीन की दीक्षा नहीं है।

आचार्योऽपि स मोक्तव्यः साधुवर्गरतोन्यथा।।

आचार्य यदि जानते हुए भी नीच कुल वाले को दीक्षा देते हैं, तो साधु समुदाय का कर्तव्य है कि वह ऐसे आचार्य का त्याग कर दें।

आचार्यपद के गर्व से गर्वित जो आचार्य सर्वज्ञ की आज्ञा का लोप कर नीच कुलीन, शूद्रादि और अयोग्य व्यक्तियों को दीक्षा देते हैं उनके लिए छेद पिण्ड अधिकार में स्थिति के अनुसार एक गुरुमास से चौंसठ गुरुमास तक प्रायश्चित करने का विधान बताया गया है।

अइबाल-बुड्ढ-दासेर-गब्भिणी संढ-कारुगादीणं।
पव्वज्जा दिंतस्स हु छग्गुरुमासा हवदि छेदो।।219।।

अति बालक, वृद्ध, दास, गर्भिणी स्त्री, नपुंसक और कारु शूद्रों को दीक्षा देने वाले आचार्य छह गुरु मास नामक प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

विंति परे एदेसु व कारुग-णिग्गंथ-दिक्खणे गुरुणो।
गुरुमासो दायव्वो तस्स य णिग्घाडणं तह य।।220।।

दूसरे आचार्य कहते हैं कि जो इन सबको और कारु शूद्रों को दीक्षा देता है उसे एक गुरु मास नामक प्रायश्चित्त देना चाहिए और उसे संघ से अलग कर देना चाहिए।

णाविय-कुलाल-तेलिय-सालिय-कल्लाल-लोहयाराणं।
मालारप्पहुदीणं तव-दोणे विण्णि गुरुमासा।।221।।

जो नाई, कुम्हार, तेली, शालिक, कलार, लुहार और माली को दीक्षा देता है, वह दो गुरुमास प्रायश्चित्त के योग्य है।

चम्मार-वरुड-छिंपिय-खत्तिय-राजगादिगाण चत्तारि।
कोसट्टय-पारद्धिय-पासिय-सावणिय-कोलयादिसु अट्ठं।।222।।

जो चामर, वरुण, छीपा, खाती और धोबी को दीक्षा देता है वह चार गुरु मास तथा जो कोशरुक, पारधी, नकली साधु, श्रावणिक और कोल को दीक्षा देता है वह आठ गुरुमास नाम प्रायश्चित्त का पात्र है।

चंडालादिसु सोलस गुरुमासा वाह-डोव-वाउरिया।
प्पहुदीणं बत्तीसं गुरुमासा होंति तव-दाणे।।22।।

चाण्डाल आदि को जिन दीक्षा देने पर सोलह तथा गाड़ीवान, डोम और व्याध आदि को जिनदीक्षा देने पर बत्तीस गुरुमास नामक प्रायश्चित्त का पात्र कहा गया है।

चउसट्ठी गुरुमासा गोक्खय-मायंग-खट्टिकादीणं।
णिग्गंथ-दिक्खिदाणे पायच्छित्त समुद्दिट्ठं।।224।।

गाय को मारने वाले, मातंड और खटीक को निग्रन्थ दीक्षा देने पर आचार्य को चौंसठ गुरु मास नाम प्रायश्चित्त का पात्र कहा गया है।

जीवन निर्वाह के लिए भोजन-पान अत्यन्त आवश्यक है। यह सर्वविदित है कि 'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन। जैसा पीवे पानी वैसी बोले वाणी'' आध्यात्मिक जीवन-निर्माण के लिए मन की शुद्धि में जैसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदि का

अनुकूल सहयोग वांछित है उसी प्रकार शुद्ध पवित्र आहार भी अत्यावश्यक है। आहार की महत्ता के कारण ही 'मूलाचार' आदि चरणानुयोग के प्रमुख ग्रंथों में 'पिण्डशुद्धि' नामक स्वतंत्र अधिकार रचा गया है। इस अधिकार में भोजन संबंधी इन सब दोषों का विस्तार से वर्णन किया गया है, जिनका परिहार करना साधु के लिए परमावश्यक है। उद्गम, उत्पादन और एषणा के भेद से दोष तीन प्रकार के हैं। एषणा दोषों के अवान्तर भेदों में से एक दायक नामक दोष भी है। इनमें कौन-कौन स्त्री एवं पुरुष आहार देने के अधिकारी नहीं है, इसका स्पष्ट उल्लेख है तथा यह भी दर्शाया गया है कि साधु जाने-अनजाने भी शूद्रादि के घर में आहार हेतु प्रवेश न करें। यदि प्रवेश कर जावे या उनसे स्पर्शित अथवा उनके घर का भोजन ग्रहण कर लें, तो प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि करें–

जातिवर्णकुलोनेषु भुंक्तेऽजानन् प्रमादतः।
सोपस्थानं चतुर्थस्यान्मासोऽनाभोगतो मुहुः।।93।।

जो जाति, वर्ण और कुल से हीन पुरुष के घर बिना जाने प्रमाद से आहार ग्रहण करता है उसे प्रतिक्रमणपूर्वक उपवास करना चाहिए। जो बार-बार भोजन करता है, वह साधु अनाभोग के साथ एक माह के प्रायश्चित्त का पात्र है।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि कुल एवं जाति आदि की व्यवस्था पहले से ही चली आ रही है। शूद्र, वर्ण, वर्णसंकर और जातिसंकर के घर का या हाथ का आहार भी निषिद्ध रहा है तभी तो ऐसा हो जाने पर उसके प्रायश्चित्त का विधान बनाया गया है।

समवसरण–

भगवान् जिनेन्द्र के समवसरण में धर्म श्रवण की इच्छा से देव मनुष्य और तिर्यंच जाते हैं। वहाँ बाहर ऐसी कोई व्यवस्था नहीं होती कि कौन-कौन व्यक्ति भीतर जा सकते हैं और कौन-कौन नहीं किन्तु जैसे सूर्य को नेत्रधारी सभी मनुष्य एवं पशु देख सकते हैं परन्तु नेत्र होते हुए भी उल्लू स्वभावतः नहीं देख सकता, उसी प्रकार शूद्रादि भी वहाँ प्रविष्ट नहीं हो पाते-

मिच्छाइट्ठि-अभव्वा तेसुमसण्णी ण होंति कइआइं।
तह य अणज्झवसाया संदिद्धा विविह-विवरीदा।।932।। ति. प.

इन सभाओं में मिथ्यादृष्टि, अभव्य और असंज्ञी जीव कदापि नहीं होते तथा अनध्यवसित चित्त वाले, संशयालु और विपरीत बुद्धि अथवा विपरीत श्रद्धा वाले जीव समवसरण में नहीं होते।

श्री जिनसेनाचार्य 'हरिवंशपुराण' में स्पष्ट कहते हैं कि शूद्र एवं पाखण्डी जीव बाहर ही घूमते रहते हैं, भीतर प्रवेश नहीं कर पाते–

पापशीला विकुर्माणाः शूद्रा पाखण्डपाण्डवाः।
विकलांगेन्द्रियोद्भ्रान्ता परियन्ति बहिस्ततः।।57।173। हरि. पु.

पापशील, विकारयुक्त, शूद्र, पाखण्डपटु, विकलांगी, विकलेन्द्रिय और उद्भ्रान्त जीव समवसरण के बाहर ही घूमते रहते हैं, भीतर प्रवेश नहीं कर पाते।

यहाँ विशेष विचारणीय यह है कि उपर्युक्त शूद्र एवं विकलांग आदि जीव किसी न किसी पर्याय में शुक्लध्यान के हेतु-भूत कुल में जन्म लेकर समवसरण में प्रवेश तो क्या, मोक्ष प्राप्ति भी कर सकते हैं किन्तु वर्तमान (पर्याय) में समवसरण में प्रवेश भी नहीं करते। वहाँ मोक्षप्राप्ति की योग्यता से सर्वथा रहित अभव्य जीव सप्तम भूमि में स्थित सर्वार्थसिद्धि नाम के स्तूपों पर्यन्त प्रवेश पा सकते हैं परन्तु उसके आगे स्थित भव्यकूट नामक स्तूप के प्रभाव से वे नेत्रहीन हो जाते हैं–

भव्यकूटाख्यया स्तूपः, भास्वत्कूटास्ततोऽपरे।
यानभव्या न पश्यन्ति, प्रभावान्धी कृतेक्षणाः।।57-104।। हरि.पु.

सप्तम भूमि में अनेक स्तूप हैं, उनमें सर्वार्थसिद्धि नाम के भी अनेक स्तूप हैं। उनके आगे देदीप्यमान शिखरों से युक्त भव्यकूट नामक स्तूप हैं जिन्हें अभव्य जीव नहीं देख पाते, क्योंकि उनके प्रभाव से उन जीवों के नेत्र अन्धे हो जाते हैं।

अभव्य जीव तो सप्तम भूमि तक जा भी सकते हैं परन्तु शूद्रादि तो समवसरण के बाहर ही रहते हैं, अन्दर प्रविष्ट नहीं होते।

समवसरण के सदृश जिनमंदिर में भी दर्शन और पूजन के अधिकारी शूद्रादि नहीं है। क्योंकि जब इनके प्रवेश करने से मंदिर की शुद्धि का विधान मिलता है, तब पूजन आदि का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यथा–

स्नापयेत्कलशैरष्टशतेन त्रिजगद्गुरुम्।
दूषितेऽस्थ्यादिभिर्देव-धाम्न्यस्पृश्यजनैरपि।।
संशोध्य सकलं धाम हुत्वा धूमध्वजाकरैः।
सिक्त्वा च सुधया देवं तैरेव स्नापयेद् घटैः।।

यदि जिनमंदिर हड्डी आदि से अथवा अस्पृश्य-शूद्रादि से दूषित हो जावे, तो जिनेन्द्र भगवान का 108 कलशों से अभिषेक करना चाहिए और मंदिर जी को धोकर तथा चूने से दिवालों को पोत कर हवन कराना चाहिए।

आधुनिक ऊहापोह–

वर्तमान तथाकथित सुधारकों की धारणा यह बनती जा रही है कि अन्य वर्ण वालों के समान शूद्र, वर्णसंकर और जातिसंकर आदि भी पूर्ण धर्म ध्यान करने के अर्थात् दर्शन, पूजन, आहारदान एवं मुनिव्रत धारण करने के अधिकारी हैं क्योंकि सम्पूर्ण मनुष्य जाति एक ही है। परन्तु वह धारणा न आगमसम्मत कहीं जा सकती है और न व्यवहार से ही उपयुक्त अथवा तर्कसंगत। क्योंकि जैसे मनुष्य जाति एक है वैसे ही स्त्री, पशु, पक्षी, वृक्ष, फल, फूल, दुग्ध आदि सबकी अपनी-अपनी जाति एक है किन्तु सर्वत्र भेदाभेद विवक्षा को ग्रहण कर ही उनकी हेयता और उपादेयता पर विचार किया जाता है। जाति की अपेक्षा सब मनुष्य एक हैं तो फिर स्वामी-सेवक, न्यायाधीश-अपराधी, गुरु-शिष्य आदि का भेद क्यों? रिक्शा पर बैठने वाला भी मनुष्य ही है और उसे खींचने वाला भी मनुष्य ही है ऐसा क्यों ? फांसी का आदेश देने वाला भी मनुष्य है और फांसी पर चढ़ने वाला भी मनुष्य है तथा फांसी लगाने वाला भी मनुष्य ही है, इतना विभेद क्यों? इस प्रकार के सहस्रों प्रश्न उठते हैं, जिनका एकमात्र उत्तर यही है कि मनुष्य जाति एक होते हुए भी प्रत्येक के स्वोपार्जित कर्म और उनके फल भिन्न-भिन्न हैं।

कुएं में स्थित जल एक है किन्तु जब वही जल भिन्न-भिन्न शुद्ध, अशुद्ध, पवित्र, अपवित्र पात्रों में भर दिया जाता है तो ग्राह्य-अग्राह्य हो जाता है। क्यों? जाति की अपेक्षा सभी स्त्रियाँ एक होते हुए भी यह स्त्री भोग्या (पत्नी) है। यह रक्षासूत्र बंधवाने योग्य (बहिन) है, यह माता है आदि भेद-विभेद क्यों ? जाति से एक होते हुए भी मासिक धर्म एवं प्रसूतिकला में वह गृहकार्य के लिए भी अस्पृश्य अथवा अपवित्र क्यों ?

शूद्र वर्ण, वर्णसंकर एवं जातिसंकर आदि के दर्शन पूजन आदि के अधिकारों का समर्थन करने वाले सुधारकों के घर एवं प्रान्त की महिलाओं पर जिनेन्द्र-अभिषेक करने का प्रतिबंध क्यों ? क्या उनकी माँ-बहनें उन शूद्रों से भी अधिक अपवित्र हैं ?

जाति की अपेक्षा सभी पशु एक हैं तो फिर गाय, भैंस एवं बकरी आदि का ही दूध उपादेय क्यों, शूकरी, कुत्ती एवं गर्दभी का क्यों नहीं ? गाय आदि के गोबर से घर-आंगन लीप कर जैसे शुद्ध किये जाते हैं वैसे शूकर एवं कुत्ते आदि के मल से क्यों नहीं ? कुत्ते के मल से अपवित्र होने वाला स्थान गाय-भैंस के गोबर से पवित्र किया जाता है-ऐसा क्यों ?

जाति की अपेक्षा सभी पक्षी समान हैं तब जैसे तोता स्वर्ण पिंजर में कैद हो घर की शोभा बढ़ाता है, वैसे कौवा क्यों नहीं ? चिड़िया रसोई घर में प्रविष्ट हो भोजन खोज लाती हैं, कबूतर घर के भीतर बच्चे पैदा कर लेते हैं वैसे कौवा आदि नहीं कर सकते-क्यों ?

आज प्रायः यह भी कहा जाने लगा है कि जब पशु-पक्षी भी व्रती बन सकते हैं तब अस्पृश्य शूद्र आदि धर्म धारण कर धर्माधिकारी क्यों नहीं बन सकते ?

देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी इन सभी जीवों की अपनी-अपनी व्यवस्थाएँ अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों के अनुसार भिन्न-भिन्न पाई जाती है। आज केवल मनुष्य उस व्यवस्था को नष्ट करना चाहता है। सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्थाओं का उल्लंघन करना ही तो अपराध है। इस तर्क के आधार पर कि 'जब पशु कर सकते हैं, तब मनुष्य क्यों नहीं कर सकते' यदि मानव जाति की व्यवस्था भंग की जाएगी तो बड़ा अनर्थ हो जाएगा, फिर तो मनुष्य भी पशुओं के सदृश अपनी माँ को भोग्य बना लेगा।

पशु जाति प्रकृति से बंधी है अतः वह अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करती। राज्य, समाज, विवाह एवं धर्म व्यवस्था के बिना भी पशु कभी अन्य जाति के पशु से सन्तान उत्पन्न नहीं करते। कौवा-कोयल, शूकर-कुत्ती और बैल-भैंस से सन्तान उत्पन्न होते न देखी गई है न सुनी गई है।

आधुनिक भौतिक युग में भौतिकता की चकाचौंधी से ग्रस्त मनुष्यों को आगमिक व्यवस्था अनुकूल नहीं लगती। उनका अहं इतना बढ़ गया है कि वे उसके आगे किसी भी व्यवस्था को स्वीकार नहीं करते, सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु में भी उनकी अटल आस्था नहीं रही, सर्वथा स्वच्छन्दता घर करती जा रही है। आज समाज में अन्तर्जातीय विवाहों का बड़ा शोर है, तथाकथित समाज सुधारक भोली जनता को यह कहकर गुमराह कर रहे हैं कि सब दिगम्बर जैन हैं, कोई भेद नहीं, जबकि धर्म, वर्ण और जाति भिन्न-भिन्न हैं। धर्म का संबंध आत्मिक गुणों से है, कुल, जाति और वर्ण का संबंध रज और वीर्य से है।

देवों के शरीर सप्त धातुओं से रहित है अतः वहाँ विवाह व्यवस्था नहीं है। भोगभूमि में जुगलिया उत्पन्न होते हैं, वे ही युवा होकर पति-पत्नी होते हैं अतः वहाँ भी विवाह व्यवस्था की आवश्यकता नहीं है क्योंकि किसी अन्य आर्य का किसी अन्य आर्या से संबंध होता ही नहीं, जिससे रज-वीर्य विकारी अर्थात्

मिश्रित हो सके। कर्मभूमि के प्रारंभ में जब युगल उत्पत्ति का नियम नहीं रहा तब रक्त को शुद्ध बनाये रखने के लिए ही वर्ण व्यवस्था बनी और विवाह के लिए अपना-अपना वर्ण और जाति ही उपर्युक्त निश्चित किये गये। इससे विपरीत प्रवृत्ति को जातिसंकरता या वर्णसंकरता कहा गया।

जहाँ-जहाँ यह पवित्र विवाह-व्यवस्था नहीं है वहाँ न तो शलाका पुरुष उत्पन्न हुए हैं और न होंगे। यही कारण है कि विवाह-व्यवस्था भी धर्म-व्यवस्था का ही एक अंग मानी गयी है। क्या भरतक्षेत्र में कभी किसी काल में त्रेसठ शलाका पुरुष शूद्र वर्ण में अथवा गर्हित कुलों में उत्पन्न हुए हैं ? कभी नहीं! तो क्या कभी होंगे ? नहीं! जो मात्र सम्यग्दर्शन से विभूषित हैं, उसके लिए भी समन्तभद्राचार्य कहते हैं–

''महाकुला-महार्था-मानवतिलका भविन्तदर्शनपूताः''

तथा- **सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यंग् नपुंसक स्त्रीत्वानि।**
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः।।35।।

अर्थात् जब सम्यग्दृष्टि जीव भी नीचकुल, विकृत अंग और दरिद्री आदि नहीं होते, वे उच्चकुलों में मनुष्य के तिलक (प्रधान) होते हैं तब क्या तीर्थंकर और चक्रवर्ती आदि महापुरुष शूद्रादि नीच कुलों में या अशुद्ध मिश्रित रज वीर्य रूप बीज से उत्पन्न हो सकते हैं ? कदापि नहीं।

पंचम काल के अंत में राज्य, धर्म, समाज, विवाह आदि सभी व्यवस्थाओं का अभाव होने पर सम्पूर्ण मनुष्य 21000 वर्ष पर्यन्त छठे काल में पशुवत् जीवन व्यतीत करेंगे तब जातिसंकर और वर्णसंकर जीवों का ही बाहुल्य होगा (जिसका श्रीगणेश हमारे तथाकथित समाज सुधारक आज कर रहे हैं) फिर भी शुद्ध वर्ण और शुद्ध जाति एवं कुल का सर्वथा अभाव नहीं होगा क्योंकि सत् का कभी नाश नहीं होता। छठे काल के अन्त में, प्रलय काल में देव एवं विद्याधर अपनी विद्या एवं अवधिनेत्र के बल से उन शुद्ध बीज स्वरूप जीवों को गंगा-सिंधु और विजयार्ध की गुफाओं में रखकर उनकी रक्षा करेंगे। उसी बीज से उत्सर्पिणी काल का प्रादुर्भाव होगा और उसी बीज से तीर्थंकर आदि शलाका पुरुष उत्पन्न होंगे। यही अनाद्यनन्त परम्परा है, इसके विच्छेद करने का दुस्साहस करने वाला अपनी ही आत्मा का अहित करेगा।

जाति और वर्ण

-आर्यिका श्री सुपार्श्वमती माताजी

शास्त्रकारों ने 'जाति' शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया है। एक अर्थ है- नाम कर्म के उदय से होने वाली जाति, जैसे-गतिजातिशरीरांगोपांग.....इत्यादि। इसके पाँच भेद हैं-1. एकेन्द्रिय जाति, 2. द्वीन्द्रिय जाति, 3. त्रीन्द्रिय जाति, 4. चतुरिन्द्रिय जाति, 5. पंचेन्द्रिय जाति। इसमें पंचेन्द्रिय जाति की अपेक्षा मानव, देव, नारकों और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की जाति एक ही है। जाति का दूसरा अर्थ योनि है जिसके कुल चौरासी लाख भेद हैं। सात लाख पृथ्वीकाय, सात लाख जलकाय, सात लाख नित्य-निगोद, दस लाख वनस्पतिकाय, दो लाख दो इन्द्रिय, दो लाख तीन इन्द्रिय, दो लाख चतुरिन्द्रिय, चार लाख पंचेन्द्रिय पशु, चार लाख देव, चार लाख नारकी, चौदह लाख मनुष्य आदि। आठ मदों में एक जातिमद भी है, इसमें पिता की वंश-शुद्धि को कुल और माता की अन्वयशुद्धि को जाति कहा है। यह जाति का तीसरा अर्थ है।

जैन शास्त्रों में जाति और वर्ण का पृथक्-पृथक् उल्लेख मिलता है। यद्यपि कोई-कोई विचारक दोनों को एक मानते हैं परन्तु आदिपुराण के अनुसार जाति और वर्ण में अन्तर है। एक ही वर्ण के अन्तर्गत कई जातियाँ-उपजातियाँ होती हैं। अतः वर्ण व्यापक और जाति व्याप्य है[1]। वर्ण का आधार आजीविका है और जाति का आधार विवाह संबंध। इसलिए जिनसेनाचार्य ने जाति व्यवस्था के लिए विवाह संबंधी नियमों का पालन आवश्यक माना है[2] त्रिलोकसार में लिखा है–

दुब्भाव-असुचि-सूदग-फुप्फवई-जाइसंकरादीहिं।
कयदाणा वि कुवत्ते जीवा कुणरेसु जायंते।।924।।

(जो दुर्भावना, अपवित्रता, सूतक आदि से युक्त है, पुष्पवती हैं, जातिसंकर हैं ऐसे जो कोई स्त्री-पुरुष-आहारदान करते हैं तो वे मरकर कुभोगभूमि में जन्म लेते हैं) इसमें जातिसंकर शब्द आया है।[3] इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि जाति अनादिकालीन है। वर्ण और जाति का विशेष वर्णन आदिपुराण में है। इस पुराण में वर्ण व्यवस्था जन्म से मानी है तथापि व्रताचरण की अपेक्षा उसकी दृढ़ता पर प्रकाश डाला है।

---

1. आदिपुराण, पर्व 16/186। 2. आदिपुराण, पर्व 16/247। 3. विपरीत कुलों को मिलाना है लक्षण, जिसका ऐसे जातिसंकर है।

आदिपुराण में वर्ण व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए वर्णानुसार आजीविका का कथन किया गया है।[1] जो व्यक्ति अपने वर्ण की आजीविका छोड़कर अन्य वर्ण की आजीविका करने लगता था, उसे दण्ड देने के विधान का भी उल्लेख है। इसलिए जातियों की रचना न तो निष्कारण हे, न नवीन है और न इनकी कल्पना आजीविका पर ही की गई है। इसलिए जाति व गोत्र अनादिकालीन हैं।

शंका—जाति को अनादिकालीन कैसे माना जा सकता है जबकि भोगभूमियों में जाति रहती ही नहीं है और कर्मभूमि के प्रारंभ में भगवान वर्ण और जाति की स्थापना करते हैं-ऐसा शास्त्रों में आता है।

समाधान—काल-परिवर्तन के कारण भरतक्षेत्र में तो भगवान के द्वारा जातियों की स्थापना होती है, आप ऐसा कह सकते हैं परन्तु विदेहक्षेत्र में भी क्या कोई तीर्थंकर जाति की स्थापना करते हैं ? वहाँ भी तो जातियाँ हैं तथा तत्रस्थ तीर्थंकर क्षत्रिय वर्ण के हैं। अनादिकाल से तीर्थंकर होते आए हैं और अनन्तकाल तक होते रहेंगे इसलिए भी जाति वर्ण अनादिनिधन हैं। शास्त्रीय दृष्टि से तीन वर्ण अनादि हैं। इस भरत क्षेत्र में भी तीर्थंकर आदिप्रभु के उत्पन्न होने के पूर्व भी इन्द्र ने नाभिराजा का विवाह क्षत्रियवंशज, काश्यप गोत्रोत्पन्न मरुदेवी के साथ किया था। इसलिए भगवान आदिनाथ ने वर्ण स्थापित किए हैं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, कार्य के कारण जातियाँ हैं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि देवों में भी जातियाँ हैं, उनकी व्यवस्था भी है। यद्यपि सर्व देव उच्चगोत्री ही हैं तथापि उनमें भेद है। किल्विष जाति के देव इन्द्र की सभा में प्रवेश नहीं कर सकते। सिद्धान्तग्रंथों में भी जाति और वर्ण का वर्णन है—

उच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्रयोरुत्तरोत्तरप्रकृतिविशेषोदयैः संजाताः वंशकुलानि।

(गोम्मटसार टीका)

शास्त्रों में जितने कुल बताए गये हैं वे ही वंश व कुल गोत्र हैं। गोत्र कर्म की उत्तरोत्तर अनेक प्रकृतियाँ होकर अनेक नाम हो जाते हैं किन्तु वे सब संग्रह नय से उच्च और नीच इन दो प्रकृतियों में गर्भित हो जाते हैं।

बहुविहवियप्पजुत्ता खत्तिय बइसाण तह य सुद्दाणं।
वंसा हवंति कच्छे तिण्णिच्चिय तत्थ ण हु अण्णे।।

ति.प. 4/2250

विदेहक्षेत्र के कच्छा देश में बहुत प्रकार के भेदों से युक्त क्षत्रिय, वैश्य तथा

1. आदिपुरण, 42/113-192।

शूद्र ये तीन वंश हैं-अन्य (ब्राह्मण) वंश नहीं है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि वर्ण अनादि है क्योंकि विदेहक्षेत्र में भरतक्षेत्र के समान षट्कालों का परिवर्तन नहीं है।

महापुराण में लिखा है—'सामान्य मानव जाति की अपेक्षा सब मानव एक होते हुए भी वृत्ति की अपेक्षा उनमें भेद होता है।'

जस्स कम्मस्स उदयेण उच्चागोदं होदि तमुच्चा गोदं। गोत्रं कुलं वंशं संतानमित्येकोर्थः।-वला 3/ सूत्र 45

जिस कर्म के उदय से उच्च गोत्र में जन्म होता है वह उच्च गोत्र है। गोत्र वंश, कुल, सन्तान एकार्थवाची है। ये उच्च-नीच अनादिकालीन हैं। इनका संबंध जन्म से है कर्म से नहीं। यदि क्रिया से उच्च गोत्र या नीच गोत्र मानें तो जिस समय जन्म लिया है उस समय वह निर्गोत्र रहेगा अथवा उसके सात कर्मों का ही उदय होगा और जब वह कार्य करेगा, तब उच्च-नीच गोत्री बनेगा। इस प्रकार मानने से तो बहुत अव्यवस्था हो जाएगी।

गोत्र कर्म के अवान्तर भेद बहुत हैं, विस्तार-भय से उनका कथन नहीं किया गया है।

-ध. 12/4, 2, 14, 19, 484 पृष्ठ

तीर्थंकर आदि उच्च गोत्र में ही जन्म लेते हैं—ऐसा कथन शास्त्रों में आता है। जितनी भी उपजातियाँ प्रचलित हैं उनका कथन भी शास्त्रों में आया है-

खण्डेलवाल, अग्रवाल, पोरवाल, बघेरवाल आदि जो नाम आज प्रचलित हैं वे हजार वर्ष पूर्व भी थे।

सागारधर्मामृत में उल्लेख है—

श्री रत्नीमुपपादि तत्र विमल व्याघ्रेरवालान्वयात्।
श्रीसल्लक्ष्यतो जिनेन्द्र समये श्रद्धालुराशाधरः।।

इसी प्रकार अनगारधर्मामृत की प्रशस्ति में लिखा है कि पण्डित आशाधर व्याघ्रेरवाल वंश में श्री रत्नी माता के उदर से उत्पन्न हुए।

खंडिल्यान्वयकल्याणमाणिक्यं विनयादिमान।
साधुः पापाभिधः श्रीमानासीत् पापपराङ्मुखः।।

खण्डेलवाल वंश में पापा नाम का भव्य पापों से पराङ्मुख हुआ।

श्रीमान् श्रेष्ठिसमुद्धरस्य तनयः श्रीपोरवालान्वयः।
व्योमेन्दुसुकृतेन नन्दतु महीचन्द्रो यदभ्यर्थनात्।।

पोरवाल वंश की वृद्धि करने वाला महीचन्द्र जयवन्त हो।

आशाधर जी ने परमार जाति का भी उल्लेख किया है-

प्रमारवंशवार्धीन्दु देव पाटनयात्मजे।

इस प्रकार आजकल की प्रचलित जातियों के भी अनेक प्रमाण मिले हैं।

धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य के कर्ता आचार्य हरिचन्द्र ने अपने को कायस्थ वंशका बताया है। आज यह कायस्थ जाति के नाम से प्रसिद्ध है। कायस्थों में निगम गोत्र होता है। 'त्रैलोक्यदीपक' में एक कायस्थ के नैगम गोत्र का वर्णन है।

इस प्रकार जैन ग्रंथों में जाति की अनादिकालीनता को सिद्ध करने वाले अनेक प्रमाण मिलते हैं। किन्हीं विद्वानों का कथन है कि जाति और वर्ण कल्पित हैं परन्तु कल्पना भी मूलभूत वस्तु के बिना नहीं हो सकती।

तन्निर्बीजायाः कल्पनाया एवासम्भवात् क्वचित् कस्यचित् तत्त्वतः प्रसिद्धस्यान्यत्रारोप्यो हि कल्पना दृष्टा।

-श्लोकवार्तिक तृतीयोऽध्यायः

'निर्बीज कल्पना की असंभवता है। क्वचित् कस्यचित् वास्तविक प्रसद्धि वस्तु का अन्य पदार्थ में आरोपण करना ही कल्पना है।' अतः कल्पना भी सर्वथा असत्य नहीं हो सकती। कहीं-कहीं ग्रंथों में जो ब्राह्मणत्व आदि जाति का निराकरण किया है वे सर्वगत जाति को मानते हैं अथवा जो ब्राह्मणत्व का अभिमान करते हैं उसका खण्डन किया है, जाति व्यवस्था का निषेध नहीं किया है। इस प्रकार शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर जाति-वर्ण की व्यवस्था जाननी चाहिए।

आचार्य गुणभद्र स्वामी ने वर्ण की व्याख्या करते हुए लिखा है–

जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः।
येषु ते स्युस्त्रयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः।।

-उत्तरपुराण पर्व 74

जो जाति, गोत्र आदि कर्म शुक्लध्यान के कारण हैं, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण वाले कहलाते हैं और जो जातिगोत्रादि कर्म शुक्ल ध्यान के कारण नहीं है वे शूद्र कहलाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि शुक्लध्यान में भी जाति आदि कारण हैं और शुक्लध्यान अनादिकालीन होने से जाति आदि भी अनादिकालीनहैं।

हमारे शास्त्रों में उल्लेख है कि एक वर्ण के साथ विवाह संबंध तो हो सकता

है यदि जाति एक हो तो, जैसे-वैश्य वर्ण में ओसवाल ओसवाल के साथ, पोरवाल पोरवाल के साथ, खण्डेलवाल खण्डेलवाल के साथ, माहेश्वरी माहेश्वरी के साथ परन्तु एक जाति का मनुष्य दूसरी जाति (ओसवाल, माहेश्वरी) के साथ संबंध करता है तो उसकी सन्तान संकरता के कारण नीच गोत्री ही होगी। भिन्न जाति होने पर विवाह संबंध का निषेध है।

महापुराण के 39वें अध्याय में अजैनों को जैनधर्म की दीक्षा देने का विधान कहा है। जब वह जैन हो जाता है तब उसकी अपनी जाति के लोग जैन नहीं होते हैं तब वह मिथ्यादृष्टियों के साथ (अन्य धर्मावलम्बियों के साथ) विवाह संबंध करता है।

युष्मादृशामलाभे तु मिथ्यादृष्टिभिरित्यमा।
समानाजीविभिः कर्तुं सम्बन्धोऽभिमतो हि नः।।70।।

इसलिए समान जाति वाले के साथ ही विवाह संबंध करना चाहिए।

वर्ण क्रियागुणनिबन्धन है और जाति क्रिया गुण निबन्धना न होकर शरीर-जन्म निबन्धना है। विवाह संबंध स्वजाति में ही करना चाहिए। धर्म विरुद्ध के साथ तो संबंध कर सकते हैं परन्तु जाति विरुद्ध करना योग्य नहीं है।

तपः श्रुतं च जातिश्च, त्रयं ब्राह्मणकारणम्।
तपः श्रुताभ्यां यो हीनो, जातिब्राह्मण एव सः।।

ब्राह्मणत्व का कारण तप, श्रुत और जाति है। जो श्रुत और तप से रहित है वह केवल जाति से ब्राह्मण है, क्रिया से नहीं। इससे भी जाना जा सकता है कि जातियाँ भी अनादि हैं।

जैन शास्त्रों में सप्त परम स्थान बताये गये हैं, उनमें भी सर्वप्रथम सज्जातित्व ही है-

सज्जातिः सद्गृहित्वं च, पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं, परिनिर्वाणमित्यपि।।

-आदिपुराण, पर्व 38, श्लोक 67

1. सज्जाति, 2. सद्गृहित्व, 3. दीक्षा, 4. सुरेन्द्रता, 5. साम्राज्य, 6. अर्हन्तपद और 7. निर्वाणपद, ये सात परम स्थान हैं। इन सातों में भी 'सज्जाति' का स्थान प्रथम है उसका अर्थ है-

पितुरन्वयशुद्धिर्या, तत्कुलं परिभाष्यते।
मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलप्यते।।85।।

विशुद्धिरुभयस्यास्य, सज्जातिरनुवर्णिता।
यत्प्राप्तौ सुलभा बोधिरयत्नोपनंतैर्गुणैः।।86।।

-आदिपुराण, पर्व 39

पिता के वंश की जो शुद्धि है वह कुल है। माता के वंश की जो शुद्धि है वह जाति है। माता और पिता के कुल की शुद्धि वह सज्जाति है। सज्जाति के प्राप्त होने पर यह प्राणी संसार समुद्र से पार हो जाता है। इसलिए सर्वप्रथम सज्जाति की रक्षा करने का प्रयत्न करना चाहिए।

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः।।
जातयोऽनादयः सर्वास्तत्क्रियापि तथाविधा।
श्रुति शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र न क्षतिः।।
स्वजात्यैव विशुद्धानां वर्णानामिह रत्नवत्।
तत्क्रियाविनियोगाय जैनागमविधिः परं।।

-यशस्तिलकचम्पू, उच्छ्वास 8, श्लोक 16-18।

गृहस्थों के दो धर्म हैं-एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। लौकिक धर्मलोक के अधीन है, पारलौकिक शास्त्र के अधीन है। जातियाँ अनादि हैं और उनकी क्रिया भी अनादि हैं। अंगशास्त्र या अंगबाह्यशास्त्र में यदि जातियों का प्रमाण मिले तो हमारी क्या हानि है ? इसलिए अपनी जाति के अनुसार ही विवाह संबंध करना चाहिए।

इस प्रकार जाति की अनादिनिधनता प्ररूपक अनेक ग्रंथ हैं। उसका अवलोकन करके जाति-वर्ण का लोप करने वालों को रोकने चाहिए।

हमारी बुद्धि शास्त्र के अनुसार होनी चाहिए, बुद्धि के अनुसार शास्त्र का अर्थ नहीं करना चाहिए।

भौतिक सभ्यता में आकण्ठ निमग्न विषय लोलुप मनुष्य येन-केन प्रकारेण विषयाभिलाषाओं की पूर्ति करने में तत्पर रहते हैं, जिनेश्वरी आज्ञा का लोप करके यद्वा-तद्वा प्रवृत्ति करते हैं, उन्हें शास्त्रों का अवलोकन करना चाहिए।

जैनधर्म और वर्ण व्यवस्था

-आर्यिका श्री विजयमती माताजी

स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते।
नास्ति परिपीडनं यस्मिन्, जैनधर्मो स उच्यते।।

'जिसमें वस्तुतत्व-प्रतिपादन का माध्यम स्याद्वाद हो, प्रत्येक वस्तु में रहने वाले अनन्त धर्मों का निरूपण निष्पक्ष रूप से किया गया हो, परपीड़ा का जिसमें लवलेश भी नहीं रहे, वही जैनधर्म है।' इस कथन से स्पष्ट है कि जिनागम वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कथित है। उसमें जो भी व्यवस्था निरूपित है, वह निर्दोष है, पक्षपातरहित है और यथार्थ सत्यरूप में ही प्रतिपादित है।

वर्ण-व्यवस्था सामाजिक जीवन की बाड़ है। जिस प्रकार शस्य श्यामला खेती बाड़ के अभाव में सुरक्षित नहीं रह सकती, उसी प्रकार वर्ण-व्यवस्था के बिना समाज सुरक्षित, जीवन्त नहीं रह सकता है। समाज क्या है ? मनुष्यों के समूह का नाम समाज है। विचार यह करना है कि मनुष्य एवं वर्ण का परस्पर क्या संबंध है ? और कब से है ? वर्तमान युग में जाति, वर्ण और समाज के संबंध में अनेक भ्रांतियाँ उत्पन्न हो गई हैं जिनके कारण न केवल भारत के सामाजिक क्षेत्र में अपितु धार्मिकऔर राजनैतिक क्षेत्र में भी महान् संक्रान्ति, उथल-पुथल और अशांति व्याप्त हो गई है। ऐसा प्रतीत होता है मानो भारतीय संसार-क्षितिज पर धूमकेतु का उदय हो गयाहै जिसने धार्मिक क्षेत्र में गहरा क्षोभ पैदा कर मानवता की रीढ़ ही तोड़ डाली है। कोई जाति व्यवस्था का उल्लंघन कर अपने को समाज सुधारक मानने लगा है तो कोई वर्ण व्यवस्था का उन्मूलन करने में अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन कर रहा है। इन निराधार घातक भ्रान्तियों का उन्मूलन परमावश्यक है। इसके लिए हमें पहले प्रत्येक शब्द का वाच्यार्थ जानना चाहिए।

यह सुनिश्चित सिद्धांत है कि प्रत्येक वाच्यार्थ अपने वाचक शब्द में सुनिहित रह कर ही कार्यकारी होता है। 'जाति' शब्द 'जनि प्रादुर्भावे' धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाने पर बनता है। प्रादुर्भाव का अर्थ उत्पत्ति, जन्म या पैदाइश है। वास्तव में जन्म और जाति में आधेय-आधार संबंध है, जैसे हथेली और रेखा। हथेली आधार है और रेखा आधेय। स्पष्ट है कि जब से हाथ है तब से रेखाएँ हैं और जब से रेखाएँ हैं तभी से हाथ हैं। इसी प्रकार जब से जन्म है तब से जाति है और जब से जाति है तब से जन्म है। चूँकि जीव अनादिकाल से है अतः

अनादि से जन्म-सन्तति है तो यह भी मानना होगा कि जाति भी अनादि है। जन्म और जाति का तादात्म्य संबंध है। "जयते यस्यां सा जातिः" जिसमें उत्पत्ति या जन्म हो, उसे जाति कहते हैं। जाति के अनेक भेद हैं – 84 लाख जातियाँ कही जाती हैं। जाति और योनी प्रायः एकार्थक हैं।

श्री आचार्य अकलंकदेव स्वामी ने "तत्त्वार्थ राजवार्तिक" में जाति को परिभाषित करते हुए लिखा है –

तत्राव्यभिचारि सादृश्यैकीकृतोऽर्थात्मा जातिः।

अर्थात् व्यभिचारी सादृश्य से जो समान अर्थस्वरूप है, उसका नाम जाति है। वह सादृश्य बिना किसी व्यभिचार के एक जातिगम समानार्थ का द्योतक है। इस सिद्धांत की आधारशिला है कर्म। कर्म-सिद्धान्त के सूक्ष्म विवेचन से ज्ञात होता है कि जाति-कर्म के मूल पाँच भेद होने पर भी उसके अवान्तर भेद अनेक हैं। प्रत्येक भेद अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता के लिए विद्यमान रहता है क्योंकि प्रत्येक के अपने-अपने स्वतंत्र गुण, धर्म और पर्याय हैं। उदाहरणार्थ हम पंचेन्द्रिय जाति को ही लें। मनुष्य, तिर्यंच, सैनी-असैनी के भेद से यह अनेक उपभेदों में विभक्त है। तिर्यंच जाति, पंचेन्द्रिय जाति का ही एक उपभेद है। परन्तु गाय, भैंस, हाथी, घोड़ा, शेर, ऊंट, बकरी, हरिण, सर्प एवं पक्षियों में तोता, मैना, कबूतर, चिड़िया, कौआ आदि अनेक भेदों में विभक्त है। इनमें पंचेन्द्रिय-तिर्यंच-जातित्व समान होने पर भी मैथुन कर्म अपनी-अपनी जातियों में ही मान्य है, वांछनीय है, अन्य-अन्य विजातियों में सर्वथा निषिद्ध है, आपत्ति और विनाश का हेतु है। इसी प्रकार मनुष्य समाज में विविध जातियाँ हैं। जैसे-अग्रवाल, खण्डेलवाल, जैसवाल, चतुर्थ, पंचम, पद्मावती पोरवाल आदि-आदि चौरासी जातियाँ हैं और भी हो सकती हैं, आगम अगाध है। ये सभी जातियाँ मनुष्यत्व धर्म की अपेक्षा एक है परन्तु मैथुन संज्ञा की प्रवृत्ति को शान्त करने के लिए अपनी-अपनी जाति में ही प्रवृत्ति करती हैं। इससे स्पष्ट है कि विवाह संबंध स्व-स्व जाति में ही होना चाहिए, होता आया है, और होता रहेगा, तभी ये जातियाँ जीवित रह सकती हैं। इनका अस्तित्व बना रहना उतना ही जरूरी है जितना मनुष्य के जीवन का। तभी तो जाति को अनादि सिद्ध करते हुए आचार्यश्री सोमदेव सूरि ने यशस्तिलकचम्पू में कहा गया है –

जातयोऽनादयः सर्वास्तत्क्रियापि तथाविधा।
श्रुतिशास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र नः क्षतिः।।8/17।।

(अर्थात् सम्पूर्ण जातियाँ अनादि हैं और इनकी क्रियाएँ भी जैसी हैं वैसी ही रहें, यदि इस बात में वेद और शास्त्र भी प्रमाण हों तो हमारे लिए क्या हानि है।)

जैनदर्शन में वस्तु की व्यवस्था अनेकान्त के आधार पर स्वीकार की गई है-आदिपुराण पर्व 38 में कहा है –

मनुष्यजातिरेकैव, जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते।।45।।
ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात्, क्षत्रियाः शस्त्रधारणात्।
वणियोऽर्थार्जनान्न्याप्यात शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात्।।46।।

जाति कर्म के उदय से मनुष्य जाति एक है परन्तु जीविका के भेद से वह भिन्न-भिन्न हो गई है। व्रतों के संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्रधार से क्षत्रिय, न्यायोपार्जित धन कमाने से वैश्य और नीच आजीविका करने से शूद्र कहलाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यदि ऐसा अर्थ लगाया जाये कि 'योग्यतानुसार वर्ण बनाये जा सकते हैं' तो वर्ण व्यवस्था सादि ठहरती है, किन्तु ऐसा सोचना अयुक्त है, आगम और युक्ति के विरुद्ध है।

अब, जरा सैद्धान्तिक दृष्टि से वर्ण के संबंध में विचार करें-वर्ण का अर्थ है रंग-रूप। प्रत्येक वस्तु में कोई न कोई वर्ण रहता ही है। परन्तु जीव के साथ इनका क्या संबंध है ? संसारी जीव कर्माधीन है। कर्मसिद्धान्त में आठ कर्मों में एक नामकर्म हैं जिस प्रकार जाति कर्म नाम कर्म के अन्तर्गत है उसी प्रकार वर्ण-नाम का कर्म भी नाम कर्म का उत्तर भेद है। इसके भी पाँच भेद हैं-1. कृष्णा, 2. नीला, 3. पीला, 4. लाल और 5. सफेद। ये वर्ण शरीर के साथ-साथ उत्पन्न होते हैं। कोई सफेद कोई लाल, काला, पीला और नीला अर्थात् जिसके जिस नाम कर्म का उदय होता है, उसके वही वर्ण जन्मजात रहता है और यह स्थिति जीवन भर रहती है। चूँकि मानव जाति अनादि से है इसलिए वर्ण भी अनादि है। श्वेत वर्ण ब्राह्मणों का, लाल वर्ण क्षत्रियों का, पीत वैश्यों का और कुरुण अस्पृश्य शूद्रों का तथा नीला स्पृश्य शूद्रों का वर्ण है। ये पाँच नामकर्म के वर्णों के आधार जन्मजात हैं, अनादि हैं इसलिए वर्ण भी अनादि है।

कुछ विचारकों का कहना है कि वर्ण-व्यवस्था श्री आदिब्रह्मा ऋषभदेव ने चलाई परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करने पर यह बात मिथ्या सिद्ध होती है। जैसा कि सिद्धान्त है-'सत् का कभी नाश नहीं होता, होता नहीं असत् उत्पाद' अर्थात् सत् का विनाश और असत् का प्रादुर्भाव कभी नहीं हो सकता है। यह ध्रुव सत्य हैं। भगवान आदिनाथ ने वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति की। यहाँ उत्पत्ति शब्द

भी विचारणीय है-उत् उपसर्गपूर्वक पत् धातु में क्तिन् प्रत्यय के योग से उत्पत्ति शब्द बना है जिसका अर्थ है प्रकट करना या होना। इसी से स्पष्ट है कि भगवान ने तिरोहित वर्ण व्यवस्था का प्रादुर्भूत प्रकट या आविर्भूत किया था, जो स्वयंसिद्ध अनादि से चली आ रही थी और काल प्रभाव से तिरोहित हो गई थी। काल-परिवर्तन सिद्धान्तसम्मत है ही। उमास्वामी आचार्य ने लिखा है–

''भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः।।3/37।।

भरतक्षेत्र, ऐरावत क्षेत्र और देवकुरु, उत्तरकुरु को छोड़कर विदेह क्षेत्र में कुल 15 कर्मभूमियाँ हैं, परन्तु भरतैरावतयोर्वृद्धि ह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यव-सर्पिणीभ्याम।।3/27।। अर्थात् भरतक्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र में षट्काल परिवर्तित होते हैं। तदनुसार कर्मभूमि के बाद भोगभूमि और भोगभूमि के बाद कर्मभूमि की रचना का आविर्भाव एवं तिरोभाव होता रहता है। अस्तु, तृतीयकाल में वर्ण व्यवस्था का तुच्छाभाव मानना सिद्धान्त का अपलाप करना है। हाँ, इतना अवश्य है तिरोहित शक्ति बाह्य निमित्त से ही उद्भूत होती है। यथा–लकड़ी में अग्नि है तो दियासलाई या आग का संयोग पाकर प्रकट हो जाती है। दूध में मक्खन, रत्न में कांति आदि अनेक उदाहरण गिनाये जा सकते हैं। उसी प्रकार मानवजाति में वर्णत्व धर्म अनादि है। भोगभूमि के काल में अनावश्यक होने से जो तिरोहित हो गया था, भगवान आदीश्वर प्रभु ने प्रजा की आवश्यकतानुसार उसे ही अपने अवधिलोचन से ज्ञात कर प्रकट किया। देखिए–आदिपुराण, पर्व 16

श्रुत्वेति तद्वचो दीनं, करुणाप्रेरिताशयः।
मनः प्रणिदधावेवं, भगवानादिपूरुषः।।142।।
पूर्वापरविदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता।
साद्य प्रवर्त्तनीयात्र ततो जीवन्त्यमूः प्रजाः।।143।।
षट्कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः।
यथा ग्रामगृहादीनां संस्त्यायाश्च पृथग्विधाः।।144।।
कर्मभूरद्य जातेयं व्यतीतौ कल्पभूरुहां।
ततोऽत्र कर्मभिः षड्भिः प्रजानां जीविकोचिता।।146।।
उत्पादितास्त्रयो वर्णास्तदा तेनादिवेधसा।
क्षत्रिया वणिजः शूद्राः क्षतत्राणादिभिर्गुणैः।।183।।

भोगभूमि में दस प्रकार के कल्पवृक्ष थे। उनसे दिव्य भोग सामग्री प्राप्त हो जाने से जाति, वर्ण, क्रिया, कर्म आदि की उन्हें आवश्यकता ही नहीं होती थी। जब

कर्मभूमि का काल आया तो वे सब कल्पवृक्षादि-लुप्त तिरोहित हो गए। उनके तिरोधान से त्रस्त प्रजा को अपना भूतकाल याद आया किन्तु ज्ञान की अल्पता के कारण वे अपने खोए वैभव को समझ नहीं सके और न पा सके। तब श्री आदिब्रह्मा ऋषभदेव की शरण में गए। उन्होंने अपने अवधिज्ञान से अनादिकालीन चतुर्थकाल की रचना को विदेहक्षेत्र के समान यहाँ भी प्रकट किया। विदेह क्षेत्र में यह चतुर्थकाल की वर्ण-व्यवस्था अनादि है, सतत प्रकट रहती है। एक समान क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण वहाँ प्रचलित रहते हैं। अनादि से बीज वृक्ष की सन्तानवत् चले आ रहे हैं और अनन्तकाल तक चलते रहेंगे। इस अनादि परम्परा को आचार्य श्री जिनसेनस्वामी ने स्वयं सिद्ध कर दिया है।

तत्कथं कर्मभूमित्वादद्यत्वे द्वितयी प्रजाः।
कर्त्तव्या रक्षणीयैका प्रजान्या रक्षणोद्यता।।10।।
रक्षाणाभ्युद्यता येऽत्र क्षत्रियाः स्युस्तदन्वयाः।
सोन्वयोऽनादि सन्ततत्या बीजवृक्षवदिष्यते।।11।।
विशेषतस्तु तत्सर्गः क्षेत्रकालव्यपेक्षया।
तेषां समुचिताचारः प्रजार्थे न्यायवृत्तिता।।12।।

अर्थात् यहाँ पर उनके वंशज जो स्व-पर रक्षण में उद्यत हैं क्षत्रिय कहलाए। यह अन्वय वृक्ष और बीज की भांति अनादि सन्तति से चला आ रहा है। विशेषतः उसकी उत्पत्ति (प्रादुर्भाव) क्षेत्र और काल की अपेक्षा से होती है। यहाँ उत्पत्ति शब्द का अर्थ पूर्व में लिखे अनुसार पुनरुत्थान, पुनरुज्जीवित करना या प्रकट करना समझना चाहिए। अन्य अर्थ असंभव है। अस्तु, वर्ण व्यवस्था न सादि है और न अटकलपच्चू कल्पित ही किन्तु अनादि और ध्रुव सत्य है।

'जैनेन्द्र व्याकरण' में भी वर्ण शब्द का प्रयोग द्वन्द्व समास के प्रकरण में आया है। 'ये वर्णेनार्हद्रू पस्यायोग्यास्तेषां द्वन्द्व एकवद्भवति' अर्थात् जो वर्ण अर्हद्रूप के अयोग्य हैं, उनमें समाहारद्वन्द्व समास होता है। किन्तु 'अर्हद्रूपयोग्यमिति किम्'' ब्राह्मणक्षत्रियौ अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय अर्हद्रूप के योग्य है। इसलिए इनमें समाहार द्वन्द्व नहीं होता किन्तु इतरेतर द्वन्द होता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शूद्र चाहे वह स्पृश्य हो या अस्पृश्य जिनदीक्षा धारण करने का अधिकारी नहीं हो सकता।

उत्तरपुराण में श्री गुणभद्रस्वामी लिखते हैं कि–

जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः।
येषु ते स्युस्त्रयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः।।पर्व 74।।

अर्थात् जातिगोत्रादि कर्म शुक्लध्यान के कारण हैं। ये जिनमें पाये जाते हैं, वे

तीन वर्ण हैं, बाकी सब शूद्र हैं। यहाँ वर्ण साध्य और जात्यादि साधन हैं, इसलिए जाति और वर्ण भिन्न-भिन्न है, यह भी फलित होता है। गोत्र का अर्थ कुल और कर्म का अभिप्राय क्रिया से है। इन सबका उत्तम होना मोक्षमार्ग का साधन है। श्री आदिपुराण में भी यही प्रकरण आया है–

जैनोपासकदीक्षा स्यात् समयः समयोचितम्।
दधतो गोत्रजात्यादि नामान्तरमतः परम्।।56।। (पर्व 39)

अर्थात् जैनोपासक दीक्षा के समय गोत्र, जाति आदि से वर्ण, कुल और कर्म आदि के नाम बदलने चाहिए। दूसरे शब्दों में श्रुतज्ञान तप बलादि की अपेक्षा नामादि करना चाहिए न कि वर्ण, जाति बदलना। जन्मजात स्वभावजन्य वस्तु में आजन्म परिवर्तन नहीं होता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जाति-वर्ण परम्परा अनादि है। यह मानव-समाज को पनपने और जीवन्त रखने के लिए प्राण स्वरूप है। इनके आधार पर ही मानवता, सभ्यता, समृद्धि और आदर्श टिके रहते हैं और आगे भी रह सकेंगे। अतः वर्ण व्यवस्था को बनाये रखना मनुष्य समाज को बनाये रखना है। जाति-व्यवस्था का पोषण व स्थिति मानव समाज को नैतिक और आध्यात्मिक आधार प्रदान करते हैं तथा उभयलोक हितकारी हैं। शिष्टता और सदाचार का मूल जाति धर्म है। इसके सुव्यवस्थित रहने पर ही धर्म, न्याय, राज्य, राष्ट्र, देश, समाज समृद्ध रह सकते हैं अन्यथा नहीं। वर्ण और जाति व्यवस्थाहीन मनुष्य निरा पशु है, धर्मकर्मबहिर्भूत म्लेच्छ है। शील, संयम, व्रतविहीन जीवन मरण तुल्य है।

आजकल कुछ तथाकथित सुधारवादी यह कहने लगे हैं कि जाति बन्धन और वर्ण व्यवस्था मनुष्य समाज को संकीर्ण घेरे में बंद कर देती है, उसके सर्वांग विकास को रोक देती है परन्तु उनका यह आरोप निराधार है। यह व्यवस्था मानवता की रोधक नहीं, पोषक है, नाशक नहीं, प्राणदायक है। इनकी स्थिति अत्यावश्यक है। जितना इनका जीवन्त रहना जरूरी है, उतना ही इनका शुद्ध रूप में रहना भी आवश्यक है।

'कन्याव्रत को भंग करने से (विवाह पूर्व किसी पुरुष का सम्पर्क होना) प्राप्त हुआ गोत्रस्खलन कुल, धर्म और मानवता को दूषण लगाने वाला तथा शीलव्रत का नाशक ही है। भौतिकता की चकाचौंध में, काम के आवेग में अथवा-भव विभव के व्यामोह में फंसकर जिसने कन्याव्रत को भंग कर दिया, उसने शीलव्रत, कुलीनता और धर्मनिष्ठा सबको ही कलंकित किया है।'

'खानदान-शुद्धि' शब्द नहीं, सिद्धान्त है

-प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन, फिरोजाबाद (उ.प्र.)

कालचक्र सदैव गतिशील रहता है। जैनागम के अनुसार काल के दो विभाग हैं- अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। प्रत्येक विभाग के छह-छह भेद हैं। अवसर्पिणी काल का पहिया सुख से दुःख की ओर तथा उत्सर्पिणी का दुःख से सुख की ओर घूमता है। वर्तमान में अवसर्पिणी काल चल रहा है। इस काल में जीवों की आयु, बल, शरीर की ऊँचाईसम्पदा, योग्यता, स्मृति, गति, मति, पद, कद आदि का निरन्तर ह्रास होता जाता है। **'दुषमा'** नामक पंचम भेद के आते-आते यह गिरावट इतनी बढ़ जाती है कि इस काल में भरत क्षेत्र से कोई भी जीव सीधे मोक्ष नहीं जाता, विदेह क्षेत्र में जन्म लेकर जा सकता है।

जैनधर्म परिणामों की शुद्धि पर जोर देता है, परिणाम-विशुद्धि के लिए **'खानपान-शुद्धि'** एवं **'खानदान-शुद्धि'** आवश्यक है। यह चिन्तनीय है कि इस दिशा में कोई गंभीरतापूर्वक ध्यान नहीं दे रहा है। इस मंच से खानपान की शुद्धि पर अनेक विद्वानों ने अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। हम पूज्य माताजी की आज्ञानुसार **'खानदान-शुद्धि'** पर आगम, युक्ति और अनुभव के आधार पर बिन्दु रूप में अपने विचार प्रस्तुत कर रहेहैं।

खानपान और खानदान की शुद्धि दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। ये कोई शब्दमात्र नहीं है, बल्कि सिद्धान्त है। इनसे जो चिगता है, वह मोक्षमार्ग से भटकता जाता है। हमारे जीवन में इन दोनों शुद्धियों का खास महत्व है।

'खानदान' शब्द का अर्थ है – कुल, वंश, जाति, गोत्र, संतति, घराना, कुलीनता आदि। शब्दकोष के अनुसार **खानजादा** ऊँचे कुल में उत्पन्न व्यक्ति को कहते हैं और **खानाबदोश** कहलाता है वह व्यक्ति, जो लक्ष्य-भ्रष्ट है। **'खाना-पीना और मौज उड़ाना'** कुलीन लोगों का लक्ष्य नहीं हो सकता, किसी खानाबदोश का हो सकता है। इसीलिए एक उर्दू-शायर ने खानजादा बनने पर जोर दिया है।

खानदान-शुद्धि के लिए शास्त्रीय शब्द है – **सज्जातित्व की सुरक्षा।** महापुराण कार के अनुसार **पितृ-वंश की शुद्धि को 'कुल-शुद्धि' और मातृवंश की शुद्धि को 'जाति-शुद्धि' तथा दोनों की शुद्धि को 'सज्जातित्व' कहते हैं।** आगम में उल्लिखित **सप्त परमस्थानों में प्रथम है सज्जातित्व और अंतिम है निर्वाण।** एक साधन है तो दूसरा साध्य, एक नींव है तो दूसरी मंजिल। सज्जातित्व के बिना निर्वाण नहीं मिलता, इस विषय में सभी आचार्य एकमत हैं। कुल-जाति-व्यवस्था अनादिकालीन है। केवल नाम बदल सकते हैं, किन्तु व्यवस्था अपरिवर्तनीय है। पहले इक्ष्वाकु, सूर्य, चन्द्रवंश आदि होते थे, अब खण्डेलवाल, अग्रवाल, जैसवाल, पद्मावती पुरवाल आदि जातियाँ हैं। महात्मा गांधी ने सफाई-कर्मचारियों को एक नया नाम दे दिया-

'हरिजन'। नाम बदलने से जाति तो नहीं बदलती।

हमारे पूज्य आचार्यों ने **सज्जातित्व की महिमा** का बखान करते हुए लिखा है–

☐ विशुद्ध खानदान में ही तीर्थंकरों का जन्म होता है। हमारे सभी तीर्थंकर क्षत्रियकुलोत्पन्न थे, इसके पीछे छिपे रहस्य को समझना चाहिए।

☐ जिसका खानदान शुद्ध है, वही दीक्षा का अधिकारी है। आचार्य श्री जिनसेन स्वामी लिखते हैं-**''विशुद्धकुलगोत्रस्थ सद्वृत्तस्य वपुष्मतः''** अर्थात् विशुद्ध कुल-गोत्र में उत्पन्न सदाचार-सम्पन्न और सुन्दर शरीर वाले ही जिन-दीक्षा धारण करने के पात्र हैं।

☐ श्री जिनेन्द्र वर्णी ने लिखा है कि पंचमकाल में भी उत्तम कुल का व्यक्ति ही दीक्षा धारण कर सकता है। (जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष/प्रव्रज्या)।

☐ नीति वाक्यामृत के अनुसार जो द्विजन्मा है, वही दीक्षा का अधिकारी है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, ये तीन द्विजन्मा माने गये हैं। शूद्र दीक्षा का पात्र नहीं है।

☐ लोक की रीति-नीति और व्यवहार में भी सदियों से सज्जातित्व की सुरक्षा का ध्यान रखा जाता रहा है। जैसे-

☐ चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने यात्रा विवरण में लिखा है कि भारत में विवाह घराना देखकर अपनी ही जाति में किया जाता है।

☐ हमारे पुरखे बताते थे कि पहले कन्या पक्ष की ओर से योग्य (सजातीय) वर ढूँढने के लिए नाई भेजे जाते थे और वे **पितृकुल** (पिता, बाबा, दादा आदि) तथा **मातृकुल** (नाना, मामा आदि) के बारे में भलीभांति पड़ताल कर संबंध निश्चित करने में सहायता करते थे।

☐ आज भी भारतीय सेना में जातियों के नाम पर जाट, सिख, गोरखा, डोंगरा आदि रेजीमेंट बने हुए हैं। इसका कारण यही है कि इन जातियों में उत्पन्न लोगों में कुल-परम्परा से वीरता और साहस के अंश ज्यादा हैं। वैज्ञानिकों ने भी अपने अनुसंधानों के आधार पर इस बात की पुष्टि की है कि पिता के शरीर से जीन्स का प्रभाव सन्तान में भी आता है।

☐ देखने में आता है कि **प्रायः** वैद्य का लड़का वैद्य, वकील का लड़का वकील और नेता का लड़का नेता बनता है। यह भी इसी बात का सूचक है कि पिता के संस्कार पुत्र में आते हैं। कहा भी है-**'जैसे जाके मात-पिता, तैसे ताके लरिका'।**

☐ सोचें कि गाय का दूध हल्का और भैंस का भारी क्यों होता है ? गांधी जी सुपाच्य होने से बकरी का दूध पीते थे।

☐ बवासीर, कुष्ठ, कैंसर आदि रोग पैतृक भी होते हैं।

☐ जातियाँ कहाँ नहीं है! देवों में भी है। किल्विषिक जाति के देवों को भी उच्चगोत्रीय माना गया है, किन्तु झाड़-बुहारी जैसे निचले दर्जे का काम करने से वे

इन्द्र की सभा में नहीं बैठते। शास्त्रों में उनको प्रजा-बाह्य कहा गया है। उच्च गोत्र और **प्रजा-बाह्य** होने में कोई विरोधाभास भी नहीं है। निंद्य कार्य करने वाले यदि प्रतिष्ठित भी हों, तो भी उनकी निंदा की जाती है और नीच कुल का आदमी भी भले या अच्छे कार्य करता है तो कहा जाता है कि यह तो देवता है। उच्च कुल-गोत्र होने पर भी रजस्वला स्त्री पिण्ड अशुद्ध होने से पूजा नहीं कर सकती और न किसी को छू सकती है। कहा जाता है कि रजस्वला स्त्री की परछाई भी पड़ जाये, तो पापड़ बिगड़ जाते हैं। गर्भवती स्त्री की दृष्टि पड़ने से साँप अंधा हो जाता है।

हमारे आचार्यों ने जाति-कुल को बुरा नहीं कहा। जाति-मद और कुल-मद न करने की सीख दी है। **मद हमेशा अच्छी वस्तु का होता है, बुरी वस्तु का नहीं।** लोग गर्व करते हैं हीरे-जवाहरात पर, धूल-मिट्टी-कंकड़ों पर नहीं। **कुल-जाति** (घराना या खानदान) एक ऊँची चीज है। उसकी सुरक्षा की जानी चाहिए।

सच तो यह है कि देश को आजादी मिलने से पहले तक सजातीय विवाहों का ही प्रचलन था, किन्तु उसके बाद पाश्चात्य शिक्षा और बाहरी हवा के प्रभाव से सुधार के पक्षधरों ने पहले सद्धर्म विवाह को उचित करार दिया, जिसका विस्तार अब विजातीय और विधर्मियों के साथ संबंध जोड़ने तक हो चुका है। इसी को कहते हैं उंगली पकड़कर पहुँचा पकड़ना। कुलगोत्र-शुद्धि और पिण्ड-शुद्धि के प्रकरण की आचार्य समन्तभद्र ने **'भस्म से ढके अंगारे'** का उदाहरण देकर आइने में पड़े प्रतिबिम्ब की तरह स्पष्ट कर दिया है। समयाभाव से हम एक दृष्टान्त प्रस्तुत कर अपनी वार्ता को विराम दे रहे हैं।

एक प्रसंग है कि शेरनी ने दो बच्चे पाले-एक अपना और दूसरा सियार का। जब वे बड़े हुए तो एक दिन दोनों जंगल में घूमने गये। वहाँ उनका सामना एक हाथी से हो गया। शेरनी का बच्चा उस पर झपटने को तैयार हुआ ही था कि स्यार-सुत ने उसे टोका और कहा पागल हो गये हो क्या तुम ? देखते नहीं कि इसका डील-डौल कितना बड़ा है। चलो भागो, नहीं तो यह हमें मार डालेगा। घर लौटने पर जब शेरनी के बच्चे ने पूरी घटना बताते हुए कहा कि यह हमारा भाई तो कायर है, हाथी को देखकर दुम दबाकर भाग आया, तब शेरनी ने सियार-सुत से कहा–

शूरोसि कृतविद्योसि दर्शनीयोसि पुत्रक!
यस्मिन कुले त्वमुत्पन्नः गजस्तत्र न हन्यते।।

हे पुत्र! तुम बहादुर हो, विद्या-निपुण हो और देखने में भी शेर के बालक-सदृश हो, किन्तु जिस कुल में तुम पैदा हुए हो, वहाँ हाथी नहीं मारे जाते। (इसलिए तुम वापिस अपने घर जाओ, अब यहाँ तुम्हारा कोई काम नहीं है।)

कहने का तात्पर्य यही है कि जाति-कुल का प्रभाव कभी जाता नहीं है।

।।इत्यलम्।।

खानदान और खानपान शुद्धि का महत्त्व

-पं. शिवचरनलाल जैन, मैनपुरी (उ.प्र.)

वन्दे धर्मतीर्थेशं, श्रीपुरुदेवपरम् जिनम्।
दानतीर्थेशश्रेयासं चापि शुद्धिप्रदायकम्।।
जातिकुलशुद्धिमादाय, अशनपानपवित्रताम्।
परमस्थानसंप्राप्ताः विजयन्तु परमेष्ठिनः।।स्वोपक्ष।।

मैं धर्मतीर्थ, व्रत तीर्थकर्ता उत्कृष्ट प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ भगवान और शुद्धि प्रदायक दानतीर्थेश श्रेयांस को प्रणाम करता हूँ। जिन्होंने जाति, कुल शुद्धि और भोजनपान की शुद्धि प्राप्त कर सप्त परमस्थानों सहित मोक्षपद को प्राप्त किया है, वे परमेष्ठी जयवन्त हों।

मानव जीवन में खानदान और खानपान शुद्धि का अत्यधिक महत्व है। निःश्रेयस और लौकिक अभ्युदय दोनों ही दृष्टियों से यह मान्य है। प्रत्यक्ष, आगम और अनुमान तीनों ही प्रमाणों से यह प्रमाणित होता है। यह सर्वत्र दृष्टिगत होता है कि प्रायः उच्च वर्ण, जाति, गोत्र-कुल वाले श्रेष्ठ कार्यों को सम्पादित करते हुए प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं। ज्ञान, ध्यान, तप की योग्यता भी श्रेष्ठ खानदान की अपेक्षा रखती है। मोक्षमार्ग में इसकी अनिवार्यता है। कतिपय जन जिनवाणी के भक्त कहलाते हुए भी अज्ञानता से जाति, कुल, गोत्र की अनादिकालीन व्यवस्था में तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था का अवमूल्यन एवं अनावश्यकता तक प्रचारित कर धार्मिक समाज के ताने-बाने को ही नष्ट करने का दुष्प्रयत्न कर रहे हैं। यह समीचीन नहीं है। यह कथन कि खानदान (कुल-गोत्र) का उल्लेख मात्र आठवीं शताब्दी से ही शास्त्रों में है नितांत असत्य है एवं ब्राह्मणों से यह प्रथा हमने ग्रहण कर ली है, यह विचार भ्रामक है। यहाँ सबसे प्राचीन आचार्य कुन्दकुन्द कृत आचार्य भक्ति में निम्न गाथा दृष्टव्य है–

देस-कुल-जाइ-सुद्धा, विसुद्ध मणवयणकाय संजुत्ता।
तुम्हं पायपयोरुहमिह मंगलमत्थु मे णिच्चं।।

यहाँ स्पष्ट कुलशुद्धि का उल्लेख है। इस गाथा को आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी से लेकर अद्यावधि श्रमणपरम्परा मान्य करती आई है। आचार्य जिनसेन स्वामी ने तो पूर्व परम्परा के अनुसार ही आदिपुराण में तथा अन्य आचार्यों ने भी अपने ग्रंथों में वर्णित किया है। पितृवंश रूप कुल और मातृवंश रूप जाति के

प्रमाण बहुधा हैं। निषेध तो किन्हीं परम्पराचार्यों ने नहीं किया है। उच्च और नीच गोत्र दो भेद गोत्र कर्म के हैं, यह प्रमाण क्या स्वीकार करने योग्य नहीं है, अवश्य ही है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है।

यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम्।
यदुदयाद् गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम्।

(सर्वार्थसिद्धि अ. 8, सूत्र 12)

भगवती आराधना, धवला आदि ग्रंथों में भी उच्च कुल को महत्व दिया गया है। समन्तभद्र स्वामी ने भी रत्नकरण्ड में 'ज्ञानं पूजां कुलं जातिं...' कहकर कुल इत्यादि के अभिमान का निषेध किया है। इस कथन से उन्होंने भी उच्च कुल की प्रतिष्ठा की है।

अतः खानदान की शुद्धि के महत्व स्वीकार करते हुए इस शुद्धि को विकृत करने वाले, विधवा विवाह, जाति सांकर्य उत्पन्न करने वाले विवाह आदि से बचना चाहिए। समाज के शुद्ध, संस्कृति रूप के लिए प्रयत्न करना योग्य है।

खानपान की शुद्धि की महत्ता भी प्रत्येक दृष्टि से आवश्यक है। धार्मिक दृष्टि से, वैज्ञानिक व स्वास्थ्य की दृष्टि से हमें द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की शुद्धिपूर्वक भोजन ग्रहण करना योग्य है। इन चार के नाम से ही 'चौका' शब्द परम्परा में प्रचलित चला आ रहा है। शुद्ध ज्ञात पदार्थ, काल मर्यादित पदार्थ, शुद्ध स्थान पर निर्मित भोजन, विशुद्ध भावनायुक्त निर्मित एवं प्रदत्त भोजन ही मन को शुद्ध रखने में कारण होता है। रात्रि भोजन त्याग को इसीलिए मूलगुण तक में, छने जल को भी मूलगुण तक में सम्मिलित किया गया है। मद्य-मांस-मधु तथा पाँच उदुम्बर का त्याग तो सर्वप्रथम ही श्रावक को कराया जाता है। यद्वा-तद्वा भोजन, बाजार का भोजन, अज्ञात भोजन त्याज्य है। वर्तमान में रेडीमेड फास्ट फूड आदि के नाम पर जो आकर्षण दिखाई देता है, वह चिन्तनीय है। साधुवर्ग की आहार व्यवस्था में मन-शुद्धि, वचन शुद्धि और कायशुद्धि की अनिवार्यता है, आहार-जल शुद्धि की भी अनिवार्यता है, इससे गृहस्थ एवं साधु दोनों का जीवन शुद्ध रहता है, अतः भोजन शुद्धि का सदैव ध्यान रखना योग्य है। अहिंसा परमधर्म है।